

आजकल

जुलाई, 2001

सात रुपये

साहित्य एवं संस्कृति का मासिक



भारत को जानने-पहचानने के लिए

पढ़िए :

प्रकाशन विभाग द्वारा प्रकाशित

ज्ञानवर्धक, रोचक और श्रेष्ठ पुस्तकें

प्रकाशन विभाग राष्ट्रीय नेताओं की जीवनियाँ और इतिहास, कला, संस्कृति, विज्ञान, वनस्पति, संदर्भ आदि विभिन्न विषयों पर तथा बाल पुस्तकें प्रकाशित करता है। 100 खंडों में संपूर्ण गांधी वाङ्मय और इस पर आधारित सी.डी. विभाग की एक महत्वपूर्ण परियोजना है।

देश तथा देशवासियों के बारे में व्यापक जानकारी देने वाली उपयोगी व ज्ञानवर्धक पुस्तकें हिंदी, अंग्रेजी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में उपलब्ध हैं। विभाग हिंदी, अंग्रेजी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में पत्रिकाएं भी निकालता है।

कुछ महत्वपूर्ण प्रकाशन

- नेताजी संपूर्ण वाङ्मय (खंड 1 से 9)
- बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष
- भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास (खंड 1 से 4)
- बच्चों के लिए भारत का इतिहास
- अजंता का वैभव
- भारत और मानव संस्कृति (खंड 1 व 2)
- बिहारी सतसई
- योग (सचित्र)

हमारे नए प्रकाशन

- उपग्रह के बाहर-भीतर : भारत के हस्ताक्षर
- नोबेल पुरस्कार विजेता महिलाएं
- प्रकृति से मैत्री
- मदर टेरेसा
- कबीर
- गोंड जनजाति
- राजभाषा हिंदी
- जंगल का न्याय

पुस्तकें इन बिक्री केंद्रों पर उपलब्ध हैं :

□ पटियाला हाउस, तिलक मार्ग, नई दिल्ली-110001 □ सुपर बाजार (दूसरी मंजिल), कनाट सर्कस, नई दिल्ली-110001 □ हाल चं. 196, पुराना सचिवालय, दिल्ली-110054 □ कामर्स हाउस, करीम भाई रोड, बालार्ड पायर, मुंबई-400038 □ 8, एस्प्लेनेड ईस्ट, कलकत्ता-700069 □ राजाजी भवन, बेसेंट नगर, चेन्नई-600090 □ बिहार राज्य सहकारी बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, पटना-800004 □ प्रेस रोड, तिरुअनंतपुरम-695001 □ 27/6, राममोहन राय मार्ग, लखनऊ-226001 □ राज्य पुरातत्वीय संग्रहालय, पब्लिक गार्डन्स, हैदराबाद-500004 □ 'एफ' विंग, प्रथम तल, केंद्रीय सदन, कोरामंगला, बंगलौर-560034 □ योजना (गुजराती) अंबिका काम्प्लेक्स, प्रथम तल, यूको बैंक के ऊपर, पालदी, अहमदाबाद-380007 □ योजना (असमिया) नौजान रोड, उजान बाजार, गुवाहाटी-781001

विक्रय काउंटर ● पत्र सूचना कार्यालय

□ 80, मालवीय नगर, भोपाल-462003 □ सी.जी.ओ. काम्प्लेक्स, 'ए' विंग, ए.बी. रोड, इंदौर, (म.प्र.) □ बी-7/बी, भवानी सिंह मार्ग, जयपुर (राजस्थान)



प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार

लेख

7. आदमी और कंप्यूटर की पतिद्वंद्विता

कंप्यूटर के आविष्कार ने एक साथ दो काम किए हैं। एक, मशीन का आंशिक मानवीकरण किया है और दो, मानव का आंशिक मशीनीकरण कर दिया है।... विकास की इस बेहद तेज रफ्तार और सतत प्रवाह ने भारत और उस जैसे या उससे भी पिछड़े हुए देशों की पत्रकारिता के समक्ष विभिन्न समस्याएं भी उत्पन्न कर दी हैं। पत्रकारिता की बदलती दुनिया, उसके विकास और उससे उत्पन्न समस्याओं पर विचार कर रहे हैं **हर्षदेव**

12. टूटे सपनों की उड़ान

अमृता के चित्रों में गति नहीं है लेकिन उसमें एक आत्मा है, एक आत्मीयता है— यही उनके चित्रों की विशेषता है। बड़ी-बड़ी आंखों की अनिश्चितता और भय से ग्रस्त पुतलियां, सहज और निष्प्रभ आकृतियां, चुपचाप किसी नियति को स्वीकारता-सा विवश वातावरण— इतना बोझिल और अवसाद भरा है कि मन पर अपना करुण प्रभाव छोड़े बिना नहीं रहता। प्रख्यात चित्रकार अमृता शेरगिल की कलाकृतियों पर **जगदीश चंदिकेश**

18. सब कुछ कह लेने के बाद का मौन

सर्वेश्वर की कविताओं में लोकोन्मुखता घनीभूत रूप में मौजूद है। गहन मानवीय करुणा से प्रेरित संघर्षशीलता, उदात्त सौंदर्यबोध, बेआस-परेशानहाल-सताए हुए लोगों का वृहत्तर समुदाय और प्रकृति की अनुकंपा पर निश्चल विश्वास सर्वेश्वर की कविताओं को व्यापक अर्थ में जीवन संदर्भों से जोड़कर मूल्य प्रदान करते हैं। सर्वेश्वर की काव्य चेतना की चर्चा **विजय कुमार सिंह** द्वारा

31. परंपरा और समकालीनता के बीच गज़ल

अमीर खुसरो से लेकर समकालीन परिवेश तक गज़ल ने ढेर सारे सवाल का उत्तर दिया है। विभिन्न कालखंडों में इसके बदले स्वभाव का समग्र मूल्यांकन असंभव है। ऐसे कुछ महत्वपूर्ण बिंदुओं को छूकर इसकी समग्रता को परिभाषित किया जा सकता है। गज़ल की परंपरा और समकालीनता पर विचार कर रहे हैं **अनिरुद्ध सिन्हा**

33. हिंदी गज़ल के इतिहास पुरुष : दुष्यंत

साहित्यिक जीवन के अपने सफर में दुष्यंत ने आलोचना, उपन्यास व काव्य नाटक भी लिखे परंतु अपने जीवन में जितनी सफलता उन्हें गज़लें लिखकर मिली उतनी संभवतः किसी अन्य साहित्यिक रूप में नहीं। गज़ल के क्षेत्र में लगभग क्रांति ला देने वाले रचनाकार दुष्यंत कुमार के रचना संसार का परिचय दे रहे हैं **राजेश कुमार व्यास**

35. उस दौर में...

आजादी के बाद भी कुछ समय तक यहां का वातावरण यथावत बना रहा। इतना जरूर हुआ कि पाकिस्तान से शरणार्थी बन आए लोगों के कारण सड़कों पर कुछ भीड़ रहने लगी।...जहां सब तरह के लोगों का आना-जाना रहने लगा। बीते दिनों के संस्मरण सुना रहे हैं **बल्लभ डोमाल**

39. श्रुतेन यत्नेन च ...

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और जगमोहन अवस्थी के बीच बहुत दिनों तक पत्र-व्यवहार चलता रहा। उस पत्र-व्यवहार का ब्यौरा **सुरेंद्र श्रीवास्तव** द्वारा

साक्षात्कार

15. नारी-मुक्ति आज भी दिवास्वप्न है!

कथाकार-उपन्यासकार मृदुला गर्ग से **कमाल अहमद** की बातचीत

कहानी

20. शाल-वन का आखिरी पेड़

अशोक प्रियदर्शी

28. पांव से जूते के दरमियान की दूरी

अख्तर आजाद

41. मजहब की कीमत

घनश्याम अग्रवाल

कविताएं

24. तीन कविताएं

विंदा करंदीकर

25. आठ गज़लें

विज्ञानम्त

26. चार गज़लें

रंजन जैदी

27. चार गज़लें

आशा 'प्रभात'

पुस्तक चर्चा

42. पराई धरती की कारा और एक हिंदुस्तानी नानी के दर्द की दास्तान

प्रकाश मनु

स्तंभ

2. पत्र

46. समीक्षा

वर्ष : 58; अंक : 3; पूर्णांक : 681;
जुलाई 2001, आषाढ़-श्रावण -1923

प्रधान संपादक

सुभाष सेतिया

सहायक संपादक

योगेंद्र दत्त शर्मा

उप संपादक

रेमी कुमारी

आवरण : **अमृता शेरगिल की कृति**

आवरण सज्जा : **अनका नैयर**

संपादकीय पत्र व्यवहार :

संपादक **आजकल** प्रकाशन विभाग,

पटियाला हाउस, नई दिल्ली-110001,

दूरभाष : 3387876, फ़ैक्स : 3387876

E-Mail : Indiapub@vsnl.net.in

संयुक्त निदेशक (उपादन) : **डी.एन. नांधी**

चंदे की दरें :

एक प्रति : 7 रुपये; वार्षिक : 70 रुपये;

दो वर्ष : 135 रुपये; तीन वर्ष : 190 रुपये

विदेशों में (हवाई डाक से) एक वर्ष

पड़ोसी देश : 500 रुपये

शेष विश्व : 700 रुपये

चंदे संबंधी पूछताछ :

प्रकाश चन्द आहूजा

विज्ञापन व प्रसार व्यवस्थापक

पूर्वी ब्लाक-4, लेवल-7, रामकृष्णपुरम,

नई दिल्ली-110066 दूरभाष : 6105590

हमारे विक्रय केंद्र

(यहां वार्षिक चंदा जमा कर सकते हैं।)

नई दिल्ली : बुक गैलरी, पटियाला हाउस;

दूरभाष : 3387983

सुपर बाजार कनाट प्लेस,

दूरभाष : 3313308

दिल्ली : बुक शाप, नुराना सचिवालय;

दूरभाष : 3968906

लखनऊ : 27/6, राममोहन राय मार्ग;

दूरभाष : 208004

कलकत्ता : 8, एम्सनेड ईस्ट;

दूरभाष : 2488030

पटना : बिहार राज्य सहकारिता बैंक

बिल्डिंग, अशोक राजपथ;

दूरभाष : 653823

मुंबई : कामर्स हाउस, करीम भाई रोड,

बालार्ड पार्क; दूरभाष : 2610081

तिरुअनंतपुरम; गवर्नमेंट प्रेस के निकट;

दूरभाष : 330650

हैदराबाद : राज्य पुरातत्व संग्रहालय बिल्डिंग,

पब्लिक गार्डन; दूरभाष : 2363993

चेन्नई : राजाजी भवन, वेसेंट नगर, दूरभाष

: 4917673

बंगलौर : एक विंग, केंद्रीय सदन, कोरामंगला

दूरभाष : 5537244

टाइपसेट : ज्योति लेजर टाइपसेटिंग

आजकल



चित्रकला के लिए ही यह कृपणता क्यों?

● मार्च अंक प्राप्त हुआ। जून 2000 के कोणार्क विशेषांक को छोड़कर कदाचित् चित्रकला पर केंद्रित लेख वर्षों बाद देखने को मिला, फिर भी बधाई स्वीकार करें।

जब आप साहित्य के किसी विशेष मुद्दे अथवा व्यक्ति पर कोई अंक केंद्रित करते हैं तो कई लेख उस संदर्भ में देते हैं जिनसे पाठक विभिन्न आयामों तक पहुंच पाता है किंतु एक लेख 'बीसवीं शताब्दी के आइने में भारतीय चित्रकला' देकर आपने इतिश्री कर ली, ऐसा कार्पण्य कला के लिए ही क्यों? छः पृष्ठों के लेख में चार पृष्ठों पर चित्र दे दिए गए और बीसवीं शताब्दी की चित्रकला पर मात्र दो पृष्ठों की टिप्पणी दे दी!

एक पूरी शताब्दी का लेखा-जोखा केवल दो पृष्ठों में लेखक क्या समेटेगा और क्या छोड़ेगा? आप स्वयं विचारें।

यह लेख आप उन दो महीनों के बाद भी दे रहे हैं जिनमें ललित कला अकादमी में कला विषयक सबसे बड़ी हलचल त्रिनाले आयोजित किया जा चुका है। यह एक ऐसा आयोजन रहा जिस पर कुछ-न-कुछ लिखा जाना आवश्यक था जबकि लगभग सभी दैनिक समाचार पत्रों तक ने इस पर विशेष लेख प्रकाशित किए हैं।

आज कला में संप्रेषणीयता और दर्शक की सिमटती सीमाओं का प्रश्न अत्यधिक विचारणीय होता जा रहा है। इसके साथ कला अकादमियों और संग्रहालयों संबंधी लेख भी इस अंक में दिया जा सकता था।

मेरा सुझाव है कि आप अपने प्रत्येक अंक के मुख्य आवरण पृष्ठ पर किसी प्राचीन अथवा आधुनिक चित्रकार की कलाकृति दिया करें तथा कलाकृति के साथ ही रचनाकार का नाम भी दिया करें। आज की इतनी विकसित छपाई

टेक्नोलाजी के होते हुए पृष्ठ नौ के चारों चित्र कितने धुंधले छपे हैं— यह आप देखें अवश्य। क्या छपाई से पहले ऐसे चित्रों का चुनाव नहीं किया जा सकता जिनमें रंगों की टोन अधिक प्रभावी और विरोधी हों?

प्रेम रस के सिद्ध कवि भारत भूषण द्वारा रचित आधुनिक बोध के चार गीत पढ़ने को मिले बहुत अच्छा लगा।

—शुकदेव श्रोत्रिय, मुजफ्फरनगर

अपर्याप्त भी नहीं

● इधर मैं कई पत्र-पत्रिकाएं देख रहा हूँ। जितना आकर्षक मुखपृष्ठ आजकल का होता है उतना आकर्षक मुखपृष्ठ कहीं और नहीं मिलता। इस बार के मुखपृष्ठ को देखने पर मुझको लगा जैसे मैं अपने गांव का ही कोई दृश्य देख रहा हूँ।

पत्र में पाठकों की बेबाक टिप्पणियों को यथास्थान, यथावत आप जिस निष्पक्षता से छापते हैं उससे पत्रिका व पाठकों का सम्मान बढ़ता ही जा रहा है।

'बीसवीं सदी के आइने में— भारतीय चित्रकला' लेख में देवप्रकाश द्वारा दी गई जानकारी यदि पर्याप्त नहीं तो अपर्याप्त भी नहीं है। चित्र कृतियां अंक को संग्रहणीय बनाने में सक्षम हैं।

कहानी 'धरोहर' झकझोरती है। युद्ध और मानव में कैसा संबंध है? युद्ध में मारे गए सैनिक का परिवार किस अंतर्व्यथा से गुजरता है, इसका एक वास्तविक अहसास दे जाती है यह कहानी। उर्मिला शिरीष को इस कहानी के लिए शत-शत शुभकामनाएं।

'लोकप्रिय विज्ञान लेखन के सरोकार' लेख विज्ञान लेखकों की प्रेरणा का स्रोत सिद्ध हो सकता है। हिंदी विज्ञानाधारित साहित्य का अभाव—सा है। 'विज्ञान समाज में चारों ओर बिखरा पड़ा है', बस इसे समेटने की दृष्टि व संकल्प चाहिए। इस लेख में विज्ञानाधारित लेखकों

को सुझाव दिए गए हैं, वे सभी लेखकों के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। दिनेशमणि को धन्यवाद।

चार गीत भारतभूषण के, दो गीत नईम के तथा तीन गीत रमेश चंद्र पंत के छापकर आपने छांदस कविता करने-पढ़ने वालों पर उपकार किया है। आज छांदस कविता से परहेज करने का एक षड्यंत्र चल रहा है। आप छाप रहे हैं, यह आपकी दूरदर्शिता है। कविता मर नहीं सकती, फिर गीत? जब तक मनुष्य है, गीत रहेगा। राजेंद्र उपाध्याय की भी दोनों कविताएं संशुद्ध हैं। सभी कवियों को मेरा साधुवाद।

कहानी 'पोसपूत' का अंत बनावटी लगा। फिर भी कहानी एक बार पढ़ना प्रारंभ करने के बाद बीच में छोड़ना कठिन लगा। पूरा पढ़वा लेती है यह कहानी।

माजदा अहमद का लेख— 'लोग भरम हम पर करें' अच्छा लगा। भारत की समन्वित संस्कृति की जड़ें बहुत गहरी हैं। लेखिका को बधाई।

भवदेव पांडेय का लेख— 'मैं चुप रहा तो बुरा मानने की बात नहीं' फिराक की दुनिया के नए पन्ने खोलता है। फिराक की इस काल की शायरी को हमें समझना ही होगा।

साक्षात्कार में कमल गुप्त से बातचीत में उनके बारे में काफी कुछ जानने-समझने का अवसर मिला।

—सार्थ, कानपुर

प्रश्न छोड़ गई

● अंक निश्चित रूप से सराहनीय है। लेख 'बीसवीं शताब्दी के आइने में भारतीय चित्रकला' में जहां चित्रकला की प्रवृत्तियों से परिचित हुए वहीं फिराक साहब पर भवदेव पाण्डेय की विवेचना प्रभाव छोड़ गई।

उर्मिला शिरीष की कहानी 'धरोहर' दिल को छू गई। यह कहानी एक कठोर सच्चाई से

परिचय कराती है- करगिल युद्ध में शहीद हुए जवानों के परिवारों को मिली सुविधाओं और पैसों ने जहां उन्हें आर्थिक संबल प्रदान किया है, वहीं वह ज्यादातर परिवारों में मानवीय रिश्तों को तोड़ने में सहायक भी हुआ है।

इस कहानी में इस मार्मिक सत्य को बखूबी परोया गया है, और यह कहानी समाज पर एक प्रश्न भी छोड़ती है कि भौतिक रूप से विकास कर रहे मानवों में

नैतिकता कितनी पीछे छूट रही है?

-अजीत विक्रम सिंह, इलाहाबाद

गहरी वेदना

● पत्रिका के मुख पृष्ठ पर अंकित कलापूर्ण चित्र देखते ही अंक के प्रति विशेष उत्सुकता बढ़ी और जब पृष्ठ खोला तो कुछ क्षण के लिए चित्रकला की दुनिया में खो-सा गया। देव प्रकाश द्वारा प्रस्तुत यह आलेख कम में ही विस्तृत जानकारी से युक्त था। विशिष्ट

जनों की अंकित कृतियां संग्रहणीय लगें। सत्य है कि कला (चित्रकला) मानवीय संवेदना को प्रत्यक्ष और हृदयग्राही रूप से देश और काल की सीमा से परे अभिव्यक्त करती है।

उर्मिला शिरीष की कहानी 'धरोहर' मार्मिक बनी है। यह कथन- 'असली युद्ध तो युद्ध समाप्ति पर शुरू होता है।' यह ऐसी वेदना है जो शेष बच्चे इंसानों को पल-पल मारती रहती है।

आजकल का अब आप 2 व 3 वर्ष का चंदा भी एक साथ जमा कर सकते हैं

मैं आपकी पत्रिका *----- का ☐ एक वर्ष (रु. 70)

☐ दो वर्ष (रु. 135) ☐ तीन वर्ष (रु. 190) का ग्राहक बनना चाहता हूं।**

चंदे का रु. ----- डी.डी./भारतीय पोस्टल आर्डर/

मनिआर्डर सं-----दिनांक-----संलग्न है।

हस्ताक्षर -----

नाम :-----

पता :-----

पिन :

● दिल्ली से प्रकाशित हमारी अन्य पत्रिकाएं हैं : बाल भारती, आबकल (उर्दू), कुल्फेतर (हिंदी व अंग्रेजी), योजना (हिंदी, अंग्रेजी, उर्दू, पंजाबी व उड़िया)। पत्रिकाओं की चंदे की दरें:

एक वर्ष : रु. 70.00, दो वर्ष : रु. 135.00, तीन वर्ष : रु. 190.00

● कृपया अपना चंदा डी.डी./पोस्टल आर्डर/मनिआर्डर निदेशक, प्रकाशन विभाग, के नाम बनाएं।

● पत्रिका भेजने में, चंदा प्राप्त होने के बाद, आठ से दस सप्ताह का समय लगता है कृपया इतने समय प्रतीक्षा करें।

● किसी भी जानकारी के लिए लिखें: विज्ञापन एवं प्रसार व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग, ईस्ट ब्लॉक 4, लेबल-7, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली-110066

* पत्रिका का नाम

** कृपया जितने वर्ष का चंदा जमा करना चाहें उस पर निशान लगा दें। और यह फार्म भरकर : विज्ञापन एवं प्रसार व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, ईस्ट ब्लॉक 4, लेबल-7, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली-110066 के नाम भेजें। टेलीफोन : (011) 6105590

शक्ति और सामान्य विस्तार की भावना से लड़ा गया युद्ध वस्तुतः अपने पीछे गहन विभीषिका, गहरी वेदना ही तो छोड़ जाती है। यहां सर्वत्र व्यक्तिगत स्वार्थ तथा स्वयं लाभ की भावना मुखरित होती है। साथ ही सुरेंद्र प्रसाद साह की कहानी 'पोसपूत' भी व्यक्तिगत स्वार्थ, स्वार्थसिद्धि से जुड़ी घटनाओं के इर्द-गिर्द ही घूमती व्यक्त हुई है।

माजदा असद का आलेख अच्छी जानकारी समेटे मिला, तो दिनेश मणि का आलेख अर्थ की पोल खोलता है जो वर्तमान का कटु सच बन गया है। गीतों में भारत भूषण जी का 'लौट चले हैं' और 'अंधी दौड़', नईम जी का 'बीच धार में' और 'कस ही नहीं बचा' अच्छे लगे।

कविताओं में दिवा भट्ट की 'सूर्यास्त' और राजेंद्र उपाध्याय की 'मेरे भीतर कहीं एक फाख्ता' मार्मिक हैं।

-जीतेंद्र राम 'ब्रजेश', दरभंगा

युद्ध के बाद का युद्ध

● माजदा असद की 'लोग भरम हम पर करें...' शीर्षक से साहित्य चर्चा अच्छे प्रकार से व्यक्त की गई है जिसमें पुराने तथा नए साहित्यकारों की रचनाओं का उल्लेख है लेकिन यह बात खटकती है कि लेख में उर्दू, फारसी तथा अरबी भाषाओं की जो पंक्तियां दी गई हैं उनको समझना उन पाठकों

के लिए कठिन है जो इन भाषाओं का ज्ञान नहीं रखते हैं। उचित होता कि इनके हिंदी अनुवाद भी दिए जाते जैसा कि अन्य लेखों में देखने को मिलते हैं।

कमल गुप्त से बलराम का साक्षात्कार अच्छा लगा।

सुरेंद्र प्रताप साह की कहानी 'पोसपूत' इस कारण समसामयिक है कि आज के युग में जब तक स्वार्थ सिद्ध नहीं होता है तब तक चरना तथा सिरजन माधो काका की खूब सेवा करते हैं लेकिन जब-जब माधो काका बिना पैसा लिए अपनी सब धरती चरना तथा सिरजन के नाम लिख देते हैं तो चरना तथा सिरजन दोनों माधो काका तथा सुनरी काकी की खबर तक नहीं लेते हैं जबकि होना यह चाहिए था कि दोनों की जीवनपर्यंत सेवा सुश्रवा करते?

उर्मिला शिरीष की कहानी 'धरोहर' एक भारतीय की सीमा के पार देश की रक्षा करने में शहीद हो जाना था। मेजर संदीप मिश्रा का बलिदान भुलाया जा सकता है? मेजर संदीप मिश्रा के माता-पिता

साक्षात्कार देते जब थक गए तो अंतिम बार जब विभा उनका साक्षात्कार लेने गई तो उनका कथन कितना सही था- 'बेटी, युद्ध सीमा पर समाप्त हो गया है, जीवन में नहीं। असली युद्ध तो युद्ध समाप्ति पर शुरू होता है। ...जहां शहीदों के परिवार अपने बेटों या भाइयों को खोकर अकेले हो जाते हैं... और...वे जो अपंग हो गए हैं...उस जीवन की त्रासदी को जीना...किसी युद्ध से कम कष्टदायी होता है क्या...!' मेजर, संदीप के पिता के विचार कितनी गहराई तक जाते हैं? पत्नी विनीता तथा संदीप की सास का आचरण अंत में खटकता है। विनीता को अंत में अपने दुखी सास-रबसुर को छोड़कर नहीं जाना चाहिए था? अब संदीप के बाद विनीता तथा उसके गर्भ में पले रहे शिशु का ही तो दोनों को सहारा था। संदीप की सास को भी विनीता को नहीं बुलाना चाहिए था।

-मोहन शर्मा, एटा

मर्मस्पर्शी कथा

● वैसे तो पूरा अंक बहुत अच्छा बन पाया है। परंतु व्यंग्यकार एवं

कथाकार कमल गुप्त से बलराम की बातचीत, फिराक गोरखपुरी के प्रारंभिक लेखन के संबंध में 'मैं चुप रहा तो बुरा मानने की बात नहीं' की प्रस्तुति बहुत अच्छी लगी। कहानी 'धरोहर' पुत्र के शहीद होने पर माता-पिता की कारुणिक स्थिति को बहुत सफलतापूर्वक चित्रित करती है। सुरेंद्र प्रसाद साह की आंचलिक कहानी 'पोसपूत' की चर्चा मैं विशेष रूप से करना चाहूंगा, जिसमें कहानीकार ने गांवों में सीधे-सादे लोगों के गांव के ही कुछ चालबाज किस्म के लोगों द्वारा छले जाने की बड़ी मर्मस्पर्शी कथा कही गई है। यह कहानी परिवेश और भाषा दोनों दृष्टियों से काफी विश्वसनीय और सार्थक है।' जिसे अपना पुत्र नहीं होता, उस दंपति को किन-किन स्तरों पर चोट पहुंचती है और वह किस दुखदायी स्थिति से गुजरती है। इसका बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्रण किया गया है। संक्षेप में, कहानी अपने उद्देश्य में सफल है और मानवीय संवेदना पर सीधी चोट करती है।

कविताओं में भारत भूषण की 'किसके हुए', नईम के गीत और रमेशचंद्र पंत के 'खंडित हुए' शीर्षक कविताएं अच्छी लगीं।

-छोटेलाल बहरदार, पूर्णिया

हृदयहीनता

● उर्मिला शिरीष की कहानी 'धरोहर' मन को उद्वेलित कर गई।

कृपया बड़े टाइप में छपाई करें

● पत्रिका बारीक टाइप में छपी जा रही है। कृपया कविताओं की तरह अन्य लेखों की भी छपाई कीजिए।

पत्रिका बारीक टाइप में छपने से- जिनकी उम्र पचपन के

पार है उन्हें पढ़ने में तकलीफ होती है। कृपया आजकल मासिक पत्रिका की छपाई थोड़ा बड़े टाइप में करें।

-एच.आर. अढाव, बुलडाणा (महाराष्ट्र)

समाज में संवेदनशून्यता चरम पर पहुँच गई है। येन केन प्रकारेण प्रसिद्धि की ललक, स्वार्थपरता, औपचारिकता की चकाचौंध में लिपटे लोग, एक-दूसरे के प्रति, समाज के प्रति और देश के प्रति इस सीमा तक हृदयहीन हो गए हैं! कहानी लंबी होते हुए भी मन को बांधे रखती है— शब्द चयन अच्छा है— एकदम से आंखों के आगे यथार्थ बिंबित हो जाता है। राजेंद्र उपाध्याय की कविता 'हो सके तो' कितनी अच्छी कल्पना है, कटुता, दुख, निराशा के बढ़ते रेगिस्तान और देश, विश्व व धरती की खाली होती सुंदरता के प्रति आकुलता इन पंक्तियों में देखी जा सकती है : *हो सके तो तुम भरना फूलों में और खुशबू / गन्ने में और रस, रेशम में और रेशम / शहद में और मिठास भरना तुम!*

भारत भूषण की कविता 'किसके हुए' अच्छी है। बीसवीं सदी की चित्रकला प्रवृत्तियों का परिचय देता लेख 'बीसवीं शताब्दी के आइने में भारतीय चित्रकला' बहुत-सी नई बातें बताता है।

इतनी अच्छी पत्रिका में संपादकीय की कमी खलती है।

—राजेश कुमार यादव, इलाहाबाद

यथार्थ से परे

● उर्मिला शिरीष की कहानी 'धरोहर' ने हमारी आंखें नम कर दीं। सुरेंद्र प्रसाद साह की कहानी 'पोसपूत' खांटी बकवास कहें तो

अतिशयोक्ति नहीं। भला रेशमी कलम चलाने वाला 'ग्राम्य जीवन का यथार्थ' और उसकी भाषा को कैसे लिख पाएगा? पूरी कहानी पढ़ने पर ऐसा लगता है कि —काकी जैसी पात्र पढ़ी-लिखी महिला है जो धड़ल्ले से खड़ी हिंदी का प्रयोग करती है। वहीं बिसवास, धरमराज, मुफ्त, सिरचना, दैवा जैसा शब्द प्रयोग करती है, जो बनावटीपन दर्शाता है। सिरचन मिडिल पास लड़का है, भला वह सिलेमा, मौस-भात (मांस-भात) कह सकता है? लेखक महोदय ग्राम्य शब्द की अज्ञानता इस शब्द से दर्शाते हैं। 'मरकन्नी काय' जबकि ग्रामीण परिवेश के अनपढ़ भी 'मरकन्नी' नहीं 'मरखंडी' गाय कहते हैं। इस तरह 'पोसपूत' कहानी यथार्थ से परे है।

कृपया इस प्रकार की कहानियों के चुनाव पर ध्यान दें, जिनमें ग्रामीण लोगों को हेय दिखाया जाए। आजकल जैसी प्रतिष्ठित पत्रिका के लिए उपयुक्त नहीं!

—उदय यादव, सोनडीहा, गया

पीड़ादायक सच

● उर्मिला शिरीष की 'धरोहर' कहानी अच्छी लगी। सैनिक की शहादत सरकारी रस्म-अदायगी, व्यवस्था की खानापूर्ति, संस्थाओं की मीडिया में रहने हेतु पीड़ित परिवार को सम्मानित करने की ललक और परिवारों की

मानसिकता— इन सबके समक्ष माता-पिता की पीड़ा का गौण हो जाना— यह सब सच है। पीड़ादायक सच! मर्मस्पर्शी!

गीत और कविताएं स्तरीय रहीं। लेख एवं साक्षात्कार ज्ञानवर्द्धक रहे। संपादकीय की कमी अखरी!

—उर्मिला कौल, आरा

फिराक की दृष्टि

● फिराक गोरखपुरी के प्रारंभिक लेखन की विवेचना की गंभीर दृष्टि जीवन के विभिन्न रूपों के प्रति अपनी चेतना विकसित करती है : खासकर फिराक साहब की परिपक्व अभिव्यक्ति जो जीवन से जुड़े सूत्रों को व्यक्त करती है। हिंदी साहित्य में सांस्कृतिक समन्वय की चर्चा पर माजदा असद की टिप्पणी वैचारिकता की कई परत खोलकर विस्तृत अभिव्यक्ति दर्ज करती है। सोचता हूँ, संत कवियों ने मनुष्यतत्त्व के प्रति सांस्कृतिक चिंता दर्ज की तो दूसरी ओर एकता की मिसाल भी कायम की। क्या आज के रचनाकार-कवियों में ऐसी व्यापक एवं खोजपूर्ण विरासत को आगे बढ़ाने का अपना-अपना गुण-सूत्र नहीं होना चाहिए? आज उनकी कविता समाजोन्मुख क्यों नहीं है? महज लिखा, पढ़ा और अपनी चर्चा तक ही क्यों सीमित रहती है? विज्ञान लेखन के सरोकार पर भी अच्छी टिप्पणी है। आज हर वस्तु विज्ञान की दृष्टि से परखी जाती है। विज्ञान विषयों पर

रचनात्मक अभिव्यक्ति और भाषा सर्वसुलभ और संप्रेषण की क्षमता रखे तो निश्चय ही विज्ञान लेखन का महत्व और लोकप्रियता बढ़ जाएगी।

—अरुण अभिवेक, पूर्णिया

अच्छी कहानी

● देवप्रकाश ने आधुनिक भारतीय चित्रकला पर अच्छी सामग्री प्रस्तुत की है। उर्मिला शिरीष की कहानी 'धरोहर' कथावस्तु, शिल्प व भाषा भाव के दृष्टिकोण से प्रशंसनीय है।

कविताओं की अपेक्षा गीतों का चयन बेहतर है। अन्य सामग्री भी पठनीय है।

—देवाशु वास, सुपौल (बिहार)

लोकप्रिय विज्ञान लेखन

● हिंदी में लोकप्रिय विज्ञान साहित्य की बहुत कमी है। कमी इसीलिए है कि विज्ञान लेखक अपने दायित्वों को पूरी गंभीरता से नहीं निभा पा रहे हैं। इस सच्चाई को नकारा नहीं जा सकता। दिनेश मणि के लेख ने विज्ञान लेखकों को उनके दायित्वों के प्रति न केवल सावधान किया है, बल्कि सही दिशा-निर्देश भी दिया है।

कहानीकार के संपादक व प्रकाशक कमल गुप्त का साक्षात्कार पढ़कर उनके बारे में कई नई जानकारियाँ मिलीं। खूब रोचक रही कमल गुप्त से बलराम की बातचीत।

—राधेलाल 'नवकल', भागलपुर

पेरक लेख

● 'लोकप्रिय विज्ञान लेखन के सरोकार' शीर्षक के अंतर्गत प्रकाशित धारणाओं से मैं पूर्ण सहमत हूँ।

यथार्थ में यदि वैज्ञानिक सोच से संबंधित जानकारी सदैव हिंदी भाषा के माध्यम से सम्मुख लाई जा सके तो भारत के सुयोग्य तत्वान्वेषकों की पहचान विदेशों में होने से पूर्व भारत में ही हो सकेगी। गणितज्ञ रामानुजम और अर्घशास्त्री अमर्त्य सेन जिन्हें विदेशों में सुयोग्य समझा गया उन्हें उस समय भारत में कोई ज्ञानता भी नहीं था। आज भी स्थिति ऐसी है।

हमने इतिहास से कुछ भी नहीं सीखा क्योंकि आज भी किसी के द्वारा निरूपित वैज्ञानिक सत्य यदि मान्यता प्राप्त नहीं है तो भारत में तब तक तिरस्कृत समझा जाता है जब तक कि वह विदेशी मान्यता का जामा नहीं ओढ़ पाता।

अतः 'प्रत्येक चीज को जांच परखकर तथा उसके आधार पर परिणाम प्राप्त करके पूरी तरह समझने के बाद सिद्धांत प्रतिपादित करना ही विज्ञान है।' लेखक के इस कथन पर ध्यान देकर वैज्ञानिक सत्यों को सामने लाने एवं भारत द्वारा मान्यता दिलाने के प्रयास किए जाने चाहिए। संभवतः इस लेख द्वारा वैज्ञानिक सोच के तथ्य प्रकाश में आने की सुविधा पा सकेंगे।

किसी विशेष परिस्थिति में वैज्ञानिक सोचों का निरूपण एक

विशेष चिंतन की देन होता है, वह भी ऐसे लोगों का चिंतन जो महान लेखकों में गिनी जाने वाली मान्यता से परे- समाज के साधारण लोगों के बीच जीवनयापन करते हैं; जिन्हें कोई ज्ञानता तक नहीं है। ऐसे लोगों द्वारा निरूपित तथ्य प्रायः अंधेरे में ही रह जाते हैं। ख्याति-प्राप्ति से दूर क्या ऐसी प्रतिभाओं द्वारा निरूपित तथ्यों का प्रकाशन कभी संभव हो सकेगा? संभवतः आपके द्वारा प्रस्तुत लेख इस ओर प्रेरित कर सके।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कहा था- 'विद्यादान में रत विद्वानों को परोपकार में रत कर्मवीरों को, मानवज्ञान की वृद्धि में तत्पर तत्वान्वेषकों को जो अभाव हो उसे हमें समाज की भूख समझना चाहिए। इन्हें जो कुछ हम श्रद्धावश देते हैं वह ठीक समाज के दुरुस्त पेट में जाता है।'

आशा है, भविष्य में भी इस तरह के लेख इस ओर सदैव प्रोत्साहित करते रहेंगे।

-मुनी कुमार कुलश्रेष्ठ,
यवतमाल (महाराष्ट्र)

विज्ञान-आंदोलन की जरूरत

● सामग्री रोचक लगी। विज्ञान स्तंभ में दिनेश मणि का आलेख 'लोकप्रिय विज्ञान लेखन के सरोकार' प्रेरणादायक हैं। संस्कृत साहित्य के विद्वानों ने साहित्य के मुख्यतया पांच भेद बतलाए हैं-

विज्ञान, दर्शन, शास्त्र, इतिहास एवं काव्य। आश्चर्य की बात है कि आज साहित्य में केवल काव्य का ही स्थान रह पाया है, और वह भी संकुचित अर्थ में। शेष चार भेद साहित्य से गायब हैं। साहित्यकार साधारणतः यह प्रश्न उठाते रहते हैं कि साहित्य के पाठक निरंतर कम क्यों हो रहे हैं? फिर वे ही तर्क प्रस्तुत करते हैं कि कोई पुस्तकें पढ़ना नहीं चाहता, या टी.वी. का दुष्प्रभाव है...आदि-आदि। पर साहित्यकार यह क्यों नहीं सोचते कि उन्होंने पाठक को आधुनिकता एवं जागरण के नाम पर दलित-गैरदलित, श्वेत-अश्वेत, स्त्रीवादी-पुरुषवादी आदि विवादास्पद मुद्दों को उठाकर समय-समय पर कितना बरगलाया है! तकनीकी प्रणाली, कृषि विज्ञान, चिकित्सा विज्ञान, अंतरिक्ष विषयक ज्ञान आदि कहाँ-से-कहाँ प्रगति कर गए पर साहित्य आज भी सौ साल पुरानी प्रथा एवं हजारों वर्ष पूर्व की मनुवादी व्यवस्था को बेकार का मुद्दा बनाकर असंख्य पाठकों को भड़काने का काम कर रहा है। ऐसे मुद्दे कभी के अपनी प्रासंगिकता खो चुके हैं। आज के ऐसे साहित्यकारों को सोचना चाहिए कि बेकार उलझनपूर्ण एवं विवादास्पद मुद्दों की जगह ऐसी कहानियों, कविताओं एवं नाटकों आदि का लेखन करें जिससे पाठक वर्ग को उन साहित्यिक विधाओं के माध्यम से विज्ञान के अतिरिक्त कृषि, पाक शास्त्र, चिकित्सा दर्शन

एवं अध्यात्म की जानकारी हो सके। अतः दिनेश मणि जी के स्वर में स्वर मिलाते हुए मैं यही कहना चाहता हूँ कि निश्चित रूप से आज लोकप्रिय हिंदी विज्ञान लेखन को एक आंदोलन का स्वरूप देने की आवश्यकता है।

-अनाम

मन को छूते गीत

● अंक पहले अंक की भांति अपनी गरिमा को बनाए हुए है। खासकर चित्रकला पर देवप्रकाश की प्रस्तुति काबिले तारीफ है। सभी गीत अच्छे लगे, पर उनमें भारत भूषण एवं नईम के गीत मन के कोने को छूते हैं। अंक की एक और विशेषता रही- कमल गुप्त से बलराम की अंतरंग बातचीत।

-मधुप, धनबाद

मर्मस्पर्शी पंक्तियाँ

● नईम के दो गीत इस अंक का आकर्षण हैं। 'हम तो खड़े हुए हैं घर के पानीपत हल्दीघाटी में' पंक्तियाँ मर्म को छू गईं।

देवप्रकाश का लेख 'बीसवीं शताब्दी के आइने में चित्रकला' बहुत अच्छा लगा। राजेंद्र गायकवाड़ के चित्र अच्छे लगे।

माजदा असद ने हिंदी साहित्य में सांस्कृतिक समन्वय की चर्चा बहुत बढ़िया और विस्तार से की है। कमल गुप्त से बलराम की बातचीत बहुत अर्शगर्म मुखर है।

-प्रद्युम्न जड़िया, रीवा

पृष्ठ 23 पर जारी

भारत में पत्रकारिता आदमी और कंप्यूटर की प्रतिद्वंद्विता

कंप्यूटर के आविष्कार ने एक साथ दो काम किए हैं। एक, मशीन का आंशिक मानवीकरण किया है और दो, मानव का आंशिक मशीनीकरण कर दिया है। कंप्यूटर को ऐसी मशीन कहा जा सकता है जो काम तो निर्देश के अनुसार ही करती है लेकिन पूरे 'सोच-विचार' के साथ। वह आपको निर्धारित नियमों के अंतर्गत ही काम करने के लिए बाध्य करती है।... विकास की इस बेहद तेज रफ्तार और सतत प्रवाह ने भारत और उस जैसे या उससे भी पिछड़े हुए देशों की पत्रकारिता के समक्ष विभिन्न समस्याएं भी उत्पन्न कर दी हैं। पत्रकारिता की बदलती दुनिया, उसके विकास और उससे उत्पन्न समस्याओं पर विचार कर रहे हैं हर्षदेव

यह कहने की जरूरत नहीं है कि पत्रकार की कलम और कागज की विदाई का आयोजन हो चुका है। उसके इन दोनों सबसे महत्वपूर्ण उपकरणों का स्थान अब कंप्यूटर ने ले लिया है। इसके साथ ही पत्रकार के काम करने की स्थितियां तथा उत्तरदायित्व भी बदले हैं। अब वह संवाददाता या संपादक के साथ कंपोजीटर, प्रूफरीडर, पेस्टअपमैन, फोरमैन और यहां तक कि प्रोसेसिंग का काफी काम भी समाचार लिखने या संपादित करने के साथ-साथ निभाता है। नई तकनीक ने उसके काम करने की रफ्तार भी कई गुना बढ़ा दी है।

पहले कोई समाचार भेजने, लिखने और संपादित तथा कंपोज करने में खासा समय लगता और इस सारे काम को संपन्न करने के लिए एक पूरी टीम को जुटना होता था। लेकिन अब यह काम अकेला पत्रकार ही निपटा लेता है। समाचार भेजने के लिए उसके पास फैंक्स, मॉडम और सेल्युलर तथा सेटेलाइट फोन जैसे साधन सुलभ हैं, लिखने या संपादन के लिए कंप्यूटर नाम का करिश्मा है, जो अलादीन के जिन की तरह चुटकी बजाते ही बताए हुए काम को निपटाकर नए काम को पूरा करने के लिए तैयार रहता है। बस, बटन दबाइए और काम शुरू। न स्याही चाहिए, न कलम चाहिए और न कागज।

सूचनाओं के संग्रहण के लिए जल्दी ही 'सेल्युलर ट्रांसमिशन' सुविधा भी उपलब्ध हो जाएगी। इसमें संदेश और आवाज दोनों एक निर्धारित रेडियो फ्रिक्वेंसी पर प्रेषित तथा प्राप्त की जा सकेंगी। एजेंसी के समाचार तो अब कंप्यूटर पर उपलब्ध ही हैं। बटन दबाने के साथ ही पत्रकार वांछित खबर चुनकर उसे वहीं का वहीं संपादित कर सकता है। वहीं का वहीं उस पर इच्छानुसार शीर्षक दे सकता है और पेज मेकअप के बाद सीधे छपने के लिए भेज सकता है। यह सब पहले सोचा भी नहीं जा सकता था।

कंप्यूटर की संग्रह शक्ति, प्रक्रिया-गति और विश्वसनीयता के कारण

सभी कार्य-व्यापार अब उसी के माध्यम से किए जाने लगे हैं। कंप्यूटर ऐसा यंत्र है, जिसके द्वारा उपभोक्ता सूचना, आंकड़े, चित्र, गीत, संगीत आदि का सृजन, संग्रह और भविष्य में उनका विभिन्न रूपों में प्रयोग तथा बदलाव भी कर सकता है।

कंप्यूटर सभी सूचनाओं का संग्रह करने के बाद उनमें योग और विश्लेषण द्वारा उपभोक्ता के लिए इच्छित और वांछित परिणामों का सृजन भी करता है। वह प्रतिपल लाखों निर्देश ग्रहण करने की क्षमता रखता है। इसके द्वारा कुछ ही समय में लाखों गणन क्रियाएं संभव हैं। गणना के साथ कंप्यूटर तर्क में भी निपुण है। अपनी तर्क-सामर्थ्य से वह तार्किक समस्या को तुरंत सुलझा सकता है। वह दो विपरीत या मित्र परिस्थितियों का तुलनात्मक अध्ययन भी कर सकता है।

कंप्यूटर वह सभी कार्य करने में सक्षम है जो मानव मस्तिष्क कर सकता है। अंतर केवल इतना है कि मनुष्य विचारशील है और वह अनुभव से सीखने और परिष्कार करने वाला होता है। लेकिन कंप्यूटर विचारशून्य है और इस कारण अनुभव का उसके लिए कोई महत्व नहीं है। वह निर्देशों का कठोरता से पालन करता है और कोई निर्देश गलत अथवा अव्यवस्थित होने पर उसको मानने से इंकार कर देता है।

कंप्यूटर कोई भाषा नहीं जानता है। उसकी अपनी अलग भाषा होती है जो यांत्रिक भाषा कहलाती है। इस भाषा का नाम 'वाइनेरी' है। इसमें केवल दो अक्षर होते हैं- शून्य (0) और एक (1)। कंप्यूटर आपकी भाषा (प्रायः अंग्रेजी) को अपनी युगल भाषा (वाइनेरी) में परिवर्तित करके प्रदर्शित करता है। कंप्यूटर का प्रयोग प्रकाशन, चित्रण, मीडिया, संचार, संवहन, वाणिज्य, प्रबंध, विज्ञान, कला विश्लेषण, निष्कर्ष और दुभाषिण के रूप में व्यापक रूप से हो रहा है।

इस तरह पत्रकारिता के काम से अब तकनीक इतने अभिन्न रूप में जुड़

गई है कि दोनों को आप अलग कर ही नहीं सकते। बस कुछ ही साल पहले की बात है, जब संवाददाता या उप संपादक किसी खबर को लिखने के बाद कंपोजीटर के पास भेजता था। वह उसको कंपोज करके प्रूफरीडर के पास अशुद्धियां निकालने के लिए भेजता था। फिर कंपोजीटर उसकी अशुद्धियों को सुधारता था। उसके बाद कंपोज की हुई खबर को मेकअपमैन के पास पहुंचाया जाता था और वहां से मशीनमैन के पास। लेकिन अब यह सारा काम पत्रकार के ही जिम्मे आ गया है। वही अखबार का पीर, बावर्ची, भिरती और खर बन गया है। यह काम नई टेक्नालॉजी ने कर डाला है। इससे एक ओर काम की गति बहुत बढ़ गई है, तो पत्रकार के ऊपर काम की जिम्मेदारियां और बोझ भी काफी बढ़ गया है। न केवल खबर को लिखने वरन् उसकी कंपोजिंग, रीडिंग से पेज मेकअप तक की जिम्मेदारी अब उसी की हो गई है।

इस पूरे काम को हम चार भागों में विभाजित कर सकते हैं : इलेक्ट्रॉनिक रिपोर्टिंग, इलेक्ट्रॉनिक एडिटिंग, इलेक्ट्रॉनिक टाइपसेटिंग और डिजाइनिंग और इलेक्ट्रॉनिक प्रिंटिंग।

कंप्यूटर के आविष्कार ने एक साथ दो काम किए हैं। एक, मशीन का आंशिक मानवीकरण किया है और दो, मानव का आंशिक मशीनीकरण कर दिया है। कंप्यूटर को ऐसी मशीन कहा जा सकता है जो काम तो निर्देश के अनुसार ही करती है लेकिन पूरे 'सोच-विचार' के साथ। वह आपकी छोटी-से-छोटी गलती को तुरंत इंगित कर देती है और आपको निर्धारित नियमों के अंतर्गत ही काम करने के लिए बाध्य करती है। यही कारण है कि जटिलतम गणनाएं अब कंप्यूटर पर ही की जाती हैं। कंप्यूटर सारा काम निर्देशों का कठोर पालन करते हुए करता है। यदि उससे इन निर्देशों के विपरीत अथवा गलत तरीके से काम करने के लिए कहा जाता है तो वह स्पष्ट इंकार कर देता है।

कंप्यूटर ने मीडिया और संचार के क्षेत्र में अभूतपूर्व और कल्पनातीत क्रांति ला दी है। प्रकाशन, चित्रण, मीडिया, संचार, वाणिज्य, प्रबंधन, विश्लेषण आदि क्षेत्रों में कार्य की आधारभूमि वही बन गया है। और अब तो यह अजूबा इंटरनेट के जरिए आकाश से पाताल तक की हर वांछित जानकारी अपने आप में समेटे हुए पेश करने के लिए हर पल तैयार रहता है कि कब आप उससे कुछ पूछें और कब वह तमाम संबंधित सूचनाएं आपको परोसे। अब विदेशों की ही तरह, भारत में भी इंटरनेट पर सामान की खरीद-फरोख्त की जाने लगी है।

इसी तकनीक की एक और देन ई-मेल है। इस पर आप वांछित व्यक्ति के साथ संदेशों का सीधे आदान-प्रदान कर सकते हैं।

इलेक्ट्रॉनिक टेक्नालॉजी की इस छलांग के चलते अगली शताब्दी में समाचारपत्र और पत्रिकाएं पूरी तरह इलेक्ट्रॉनिक रूप ही नहीं ले लेंगी, वरन दोनों मीडिया- प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक- एकाकार या एक-दूसरे में समाहित होकर एक नया स्वरूप भी ग्रहण कर लेंगे। इंटरनेट पर समाचारपत्र पढ़ने और प्रिंटर पर उसे 'डाउन लोड' करने की वर्तमान सुविधा का कुछ ही वर्षों में इतना विस्तार और हो जाएगा कि समाचारपत्र टेलीविजन के परदे पर भी पढ़े जा सकेंगे और घर में लगे प्रिंटर पर उनको मुद्रित रूप में भी प्राप्त करना संभव हो जाएगा। यह एचडी टी.वी. (हाई डेफिनेशन टी.वी.) या जिसे एक्सटेंसीबल टेलीविजन भी कहते हैं, के माध्यम से संभव होगा। टेलीविजन की इस नई तकनीक से पढ़ने तथा देखने पर आंखों को थकान भी कम होगी।

वस्तुतः यह सूचना प्रौद्योगिकी की एक और देन होगी। यहां सूचना प्रौद्योगिकी की कुछ महत्वपूर्ण उपलब्धियों का संक्षिप्त उल्लेख उपयुक्त होगा।

टेलीटेक्स

यह मल्टीमीडिया की देन भविष्य में वीडियो और प्रिंट अर्थात् इलेक्ट्रॉनिक दृश्य और मुद्रित शब्द एकाकार कर देगी। समाचारपत्रों के पत्रों पर मुद्रित तस्वीरें अचल नहीं होंगी वरन हरकत करती दिखाई देंगी। इस प्रणाली को वीडियो टेक्स नाम दिया गया है। वस्तुतः यह टेलीटेक्स का ही विकसित रूप होगी। अमेरिका में इलेक्ट्रॉनिक-प्रकाशन की शुरुआत में इलेक्ट्रॉनिक समाचारपत्र का ही प्रकाशन हुआ। कुछ लोगों ने इसको प्रिंट टेलीविजन कहा। लेकिन संबंधित उद्यमियों ने इसे टेलीटेक्स नाम दिया।

इस प्रणाली की खोज ब्रिटेन में हुई। इसके लिए ऐसी तकनीक विकसित की गई कि टेलीविजन के परदे पर प्रिंट और ग्राफिक सूचना एक साथ उभर आती है। टेलीटेक्स परंपरागत प्रसारण संकेतों या केबल द्वारा शब्दों और चित्रों (टेक्स्ट एंड ग्राफिक्स) को संप्रेषित करने का एकतरफा माध्यम है। इस उद्देश्य के लिए टेलीविजन सैट के साथ एक विशेष डीकोडर लगाना होता है। दर्शक इलेक्ट्रॉनिक समाचारपत्र के वांछित अंशों को देखने के लिए अपने की-पैड नियंत्रक की मदद ले सकता है। लेकिन इस प्रणाली में कई समस्याएं पेश आईं, जैसे (1) परदे पर निर्धारित क्रमानुसार ही पृष्ठ अवतरित होते हैं (2) संप्रेषण के लिए अंतरराष्ट्रीय मानक का अभाव है और (3) किसी विशेष सूचना को परदे पर देखने की कार्यवाही धीमी गति से चलती है।

लेकिन टेलीटेक्स प्रणाली से संबंधित लोगों का कहना है कि इन तक्यों में बहुत वजन नहीं है तथा इसकी एक विशेषता यह भी है कि इसमें सूचना-प्रवाह को निरंतर नवीनतम रखा जा सकता है अर्थात् पुरानी खबर तथा तस्वीरें हटाकर लगातार नई फीड की जा सकती हैं।

वीडियोटेक्स

टेलीटेक्स के विपरीत वीडियोटेक्स प्रणाली में अनेक अतिरिक्त सुविधाएं तथा विशेषताएं हैं। इन विशेषताओं की संख्या यूरोपीय देशों में लगातार बढ़ रही है। इसे कुछ लोग व्यूडाटा नाम से भी पहचानते हैं। इस प्रणाली की खोज भी ब्रिटेन में ही आठवें दशक के अंतिम वर्षों में हुई थी। अमेरिका में नवें दशक में व्यावसायिक स्तर पर वीडियोटेक्स सेवा का आरंभ हुआ। इसको कंप्यूटर अथवा टेलीविजन के परदे पर देखा-पढ़ा जा सकता है। लेकिन यह सेवा महंगी सिद्ध हुई। इसके लिए एक अलग उपकरण, जिसका नाम सेप्टर है, लेना भी जरूरी है। इसकी कीमत 900 डॉलर है।

इसके बावजूद अनेक समाचारपत्र इस सेवा से जुड़ गए। इनमें *वाशिंगटन पोस्ट* भी है। उसने सूचनाओं तथा जानकारियों के अतिरिक्त अपने इलेक्ट्रॉनिक पुस्तकालय से संपर्क की सुविधा भी उपलब्ध कराई है। अन्य सूचनाओं में वह संसदीय गतिविधियां, मतदान संबंधी आंकड़े, संघीय सेवाओं तथा प्रशासन संबंधी मामलों का विस्तृत विवरण भी उपलब्ध कराता है। *वाशिंगटन पोस्ट* के अतिरिक्त आठ अन्य स्थानीय समाचारपत्र भी इस सेवा के ग्राहकों तक पहुंच रहे हैं।

इन आरंभिक प्रयासों के साथ ही अमेरिकी समाचार उद्यमियों को इस जटिल सवाल से जूझना पड़ रहा है कि इलेक्ट्रॉनिकीकरण की दिशा में बढ़ने के परिणाम क्या होंगे? यदि कागज के बजाय इलेक्ट्रॉनिक पृष्ठभूमि अर्थात् स्क्रीन पर अखबार प्रकाशित किए जाने लगे तो समाचार संकलन, विज्ञापन और वितरण की वर्तमान प्रणाली के लिए नई चुनौतियां तथा समस्याएं पैदा हो जाएंगी। विशेषज्ञों की राय

यह है कि फिलहाल तो समाचारपत्रों की सुरक्षा वर्तमान व्यवस्था में ही निहित है। लेकिन बड़ा प्रश्न यह है कि कितने समय तक और फिर उसके बाद? कुछ दूसरे विशेषज्ञों की सम्मति यह है कि समाचारपत्र कर्मियों को मल्टीमीडिया संचार माध्यम का प्रशिक्षण और अभ्यास भी जारी रखना चाहिए ताकि समय की मांग होते ही वे अपने प्रकाशन को प्रिंट से इलेक्ट्रॉनिक में तब्दील कर सकें, जबकि विशेषज्ञों का एक वर्ग ऐसा भी है, जिसकी राय में समाचारपत्रों को धीरे-धीरे परिवर्तन की शुरुआत कर देनी चाहिए। पहले उन्हें मिले-जुले प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक समाचारपत्र में तब्दील हो जाना चाहिए और भविष्य में समाचारपत्र को पूरी तरह इलेक्ट्रॉनिक स्वरूप प्रदान कर देना चाहिए।

पश्चिमी देशों और विशेष रूप से अमेरिका में समाचारपत्रों के भविष्यत रूप-स्वरूप के संबंध में कई अध्ययन तथा प्रयोग चल रहे हैं। इनके नतीजे न केवल हमारे समाचारपत्रों की दशा-दिशा तय करेंगे, वरन् हमारे लिए नई और जटिल चुनौतियां भी साथ लाएंगे, जिन्हें अपने परिवेश तथा परिस्थितियों के अनुरूप हल करना होगा।

उदाहरण के लिए, पाठक की व्यक्तिगत रुचि का अखबार निकालने का प्रयोग किया जा रहा है। ऐसा अखबार जो हर पाठक की अपनी पसंद और रुचि पर पूरी तरह खरा उतर सके। इस प्रकार के समाचारपत्र के अनेक रूप हो सकते हैं जैसे, समाचारों को ऑन लाइन नेटवर्क पर ही सीधे पाठक को प्रदान कर दिया जाए अथवा उसकी पसंद के समाचारों का 'कैप्सूल' तैयार करके उसे टेलीविजन या डेस्कटॉप कंप्यूटर पर उपलब्ध कराया जाए।

इलेक्ट्रॉनिक समाचारपत्र के पक्ष में एक बात जरूर है कि 'व्यक्तिगत समाचारपत्र या पत्रिका' पाठक के पसंदीदा रूप में संभव है और आज यह प्रकाशकों के मध्य केवल चर्चा का ही नहीं, तरह-तरह के विवादों और प्रयोगों का कारण भी है। समाचारपत्र कंपनियां इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कई तरीकों पर काम कर रही हैं। इसमें समाचारपत्र का 'क्षेत्रीयकरण' और विषय विशेष के समाचारों के अलग-अलग परिशिष्ट तैयार करके प्रस्तुत करने जैसे प्रयास शामिल हैं।

'क्षेत्रीयकरण' के अंतर्गत समाचारपत्र का प्रयास होता है कि उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिमी क्षेत्रों के संस्करण अलग रखे जाएं तथा संबंधित क्षेत्र के संस्करण में उस इलाके पर विशेष और विस्तृत पठन-सामग्री दी जाए। कुछ समाचारपत्र हर क्षेत्र को एक से अधिक हिस्सों में बांटकर हर हिस्से पर विशेष सामग्री देने का प्रयोग कर रहे हैं।

लेकिन बाजार विशेषज्ञों का कहना है कि 'व्यक्तिगत समाचारपत्र' की तुलना में 'क्षेत्रीय संस्करण' काफी पीछे रह जाएंगे क्योंकि व्यक्तिगत रुचियों और जरूरतों को 'व्यक्तिगत समाचारपत्र' ही सही ढंग से पूरा कर सकते हैं। लेकिन इस बात पर भारी विवाद है क्योंकि कई प्रकाशक उनकी राय से सहमत नहीं हैं।

इसके बावजूद अनेक समाचारपत्रों को पाठकों की पसंद के विषयों के अनुसार विभिन्न खंडों में तैयार करने के प्रयोग किए जा रहे हैं। इन विषयों में व्यापार कला और मनोरंजन, खेल, विज्ञान और तकनीक, रहन-सहन, फैशन, गृहसज्जा, भोजन, यात्रा के अतिरिक्त विशेष अवसरों और आयोजनों पर सामग्री यथा ओलंपिक, शीतकालीन खेल, विश्व सुंदरी प्रतियोगिता आदि शामिल हैं। समाचारपत्र समालोचकों ने इस प्रक्रिया को 'समाचार' में परिशिष्टीय क्रांति नाम दिया है। व्यक्तिगत समाचारपत्र की नवीनतम धारणा को एक विशेषज्ञ माइकेल

कॉनिक ने इन शब्दों में व्यक्त किया है- 'व्यक्तिगत समाचारपत्र समाचारपत्रों और सीधे विक्रय की तकनीक का गठबंधन है। इस प्रक्रिया के अंतर्गत समाचारपत्र प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक की नई-नई तकनीक अपना रहे हैं ताकि हर उपभोक्ता की आवश्यकता के अनुसार 'व्यक्तिगत समाचार और विज्ञापनों' का कैप्सूल दिया जाए। इसकी सफलता के परिणामों की अभी प्रतीक्षा करनी होगी। लेकिन व्यक्तिगत समाचारपत्र का परंपरागत समाचारपत्र उद्योग पर भी दबाव पड़े बिना नहीं रहेगा...'।

व्यक्तिगत समाचारपत्र समाचारों की विविधता की दृष्टि से सशक्त माध्यम बन सकेंगे। विस्तृत सूचनाओं को ग्राफिक शैली में सबसे अच्छे ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है। शेयर बाजार में मंदी के कारण बताने के लिए उसका ग्राफिक विवरण देना ही सबसे अच्छा तरीका है। लेकिन किसी भाषण या सामूहिक चर्चा को 'आडियोक्लिप' द्वारा ज्यादा अच्छे ढंग से पेश किया जा सकता है। किसी घटना या व्यक्ति से संबंधित घटना के समाचार का मूल भाव और प्रभाव तस्वीरों अथवा दृश्य माध्यम के साथ प्रस्तुत करने से वह कुछ हद तक प्रभावित हो जाता है। डिजिटल तकनीक सूचना-समाचार की तलाश, महत्व निर्धारण, तुलना और सुधार की अपार संभावनाएं उपलब्ध कराती है। इसके जरिए हम समाचार-कथाओं को परस्पर जोड़ने और बदलने की ऐसी सुविधा प्राप्त कर लेते हैं, जिसकी संपादकों ने कभी कल्पना तक नहीं की थी।

स्पष्ट है कि व्यक्तिगत समाचारपत्र के स्वरूप में संभावित परिवर्तनों के बावजूद भविष्य में उसकी उज्ज्वल संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता है। हो सकता है, कुछ ही समय बाद समाचारपत्रों के इलेक्ट्रॉनिक संस्करण सर्वसुलभ हो जाएं।

लेकिन समाचारपत्र में समाचारों को एक पृथक सांचे-ढांचे में प्रस्तुत किया जाता है और पाठक पर उसका प्रभाव भी अलग ढंग से पड़ता है। एक तथ्य यह भी है कि टेलीविजन या कंप्यूटर के परदे पर समाचार देखने के मुकाबले अखबार पढ़ने में थोड़ी ज्यादा शक्ति खर्च करनी होती है। अखबार पढ़ने के लिए टेलीविजन पर समाचार देखने की तुलना में अधिक धैर्य भी चाहिए। अखबार में लिखे समाचार का खुलासा बिंदुवार होता है। अखबार में छपा समाचार परदे पर सुनाए-दिखाए जाने वाले समाचार की तुलना में ज्यादा विवेचनापूर्ण तथा गूढ़ होता है। अतः पाठक को अधिक एकाग्र होने की आवश्यकता पड़ती है।

समस्या यह आ रही है कि दिन-ब-दिन तेज रफ्तार हो रही जिंदगी के कारण घटते समय और उसी अनुपात में बढ़ते तनाव के दौर में पाठक समाचारपत्र पढ़ने के लिए आवश्यक धीरज और एकाग्रता के लिए तत्पर दिखाई नहीं देता। अखबार पढ़ने के लिए विवेक और बुद्धि भी कुछ ज्यादा चाहिए।

इस विषय पर किए गए अध्ययनों से एक मनोवैज्ञानिक पक्ष भी सामने आया और वह यह कि टेलीविजन के संवाददाता को परदे पर जीता-जागता देखने और घटनास्थल पर खुद उसकी मौजूदगी के कारण उसके साथ दर्शक की समरसता तथा मानसिक सामंजस्य सहज ही स्थापित हो जाता है, जबकि समाचारपत्र के संवाददाता के साथ उसका यह रिश्ता कायम नहीं हो पाता क्योंकि वह उसको न जानता है और न पहचानता है।

वास्तविक धरातल पर इस सच्चाई की पुष्टि करगिल और उससे पूर्व 'सी एन एन' द्वारा खाड़ी युद्ध के दौरान रिपोर्टिंग से भी होती है, जब अखबार की तथ्यपरक और अधिक विवेचनापूर्ण खबरें पाठकों को नीरस तथा बोझिल लगती थीं और युद्धस्थल (हालांकि इसकी वस्तुनिष्ठता पर विवाद है) से धमाकों-तोपों

की गर्जना के बीच टी.वी. संवाददाता की खबरें दर्शकों को अधिक दिलचस्प, जीवंत और तथ्यपरक महसूस होती थीं। इस बात को हम किसी मैच के सीधा प्रसारण और उस मैच की दूसरे दिन अखबार में छपी खबर से और अधिक अच्छी तरह समझ सकते हैं।

वस्तुतः इस गुथी की असलियत यह है कि जहां अखबार का संवाददाता अच्छी लेखन शैली के साथ तथ्यों पर पूरा जोर देते हुए खबर की विश्वसनीयता के प्रति पूरी निष्ठा का प्रयास करता है, वहीं टीवी संवाददाता अपने दर्शक के साथ सामंजस्य स्थापित करने, उसकी रुचि के अनुरूप समाचार को ढालने, उस विषय में पारंगत होने का एहसास दिलाने और प्रभावशाली स्वर में अपनी बात प्रस्तुत करने पर अधिक बल देता है।

लिखित (किताबें और अखबार) और मौखिक (वर्तमान में टेलीविजन) संस्कृति के विभिन्न पक्षों के संबंध में यहां वाल्टर आंग का उद्धरण उल्लेखनीय है। आंग के अनुसार मुद्रित या लिखित माध्यम ने प्राचीन वाक्कला को शिक्षा के केंद्र से विस्थापित करके विषय-विरलेषण, रेखाचित्रों तथा तालिकाओं के माध्यम से ज्ञान का परिमाण अधिकाधिक बढ़ाने पर बल दिया है। लगभग यही बात मीडिया के दर्शनाचार्य मैकलुहान ने भी कही है। आंग का कहना है कि 'मुद्रित शब्द ने व्यक्तिगत पहचान और वैयक्तिक निजता को स्थापित करने में सहायता की। मुद्रण से किताबें बनीं...जिससे एकांत अध्ययन का मनोवैज्ञानिक चरण प्राप्त किया जा सका...और इसका परिणाम हुआ पूरी शांति के साथ अध्ययन...मुद्रण ने शब्दों पर निज स्वामित्व का नया एहसास पैदा किया...(और इसने) मनुष्य को अपने अंतश्चेतन और अचेतन स्रोतों पर अधिकाधिक वस्तुनिष्ठ, अवैयक्तिक और तटस्थ भाव से विचार करने के लिए प्रोत्साहित किया।'

अनेक भाषाविदों, संचार विशेषज्ञों और इतिहासकारों का मानना है कि मुद्रित माध्यम ने परिपूर्णता का अनुभव कराया। इसको एक ऐसी भावना कहा जा सकता है जो किसी समाचारपत्र या पुस्तक को पढ़ने पर उस विषय की परिपूर्णता तक पहुंचने का एहसास दिलाती है। उदाहरण के लिए, समाचारपत्र उतनी तेजी से अपने समाचारों में परिवर्तन नहीं कर सकता जिस गति से टेलीविजन के समाचार बुलेटिन में यह संभव है। टेलीविजन की रिपोर्ट में किसी भी समय, यहां तक कि समाचार वाचन के जारी रहते हुए भी नवीनतम समाचार या परिवर्तन को शामिल किया जा सकता है।

इस चर्चा से एक परिणाम तो यह सामने आता है कि मुद्रित माध्यम अंतिम रूप से दरकिनार भले ही न हो गया हो, पर उसके लिए चुनौती पैदा हो गई है और यह बात चिंता के साथ भय का भाव भी पैदा करती है। टेलीविजन शिक्षा का सर्वव्यापी साधन बन गया है, जिससे लगता है कि मुद्रित माध्यम लगातार सिकुड़ रहा है। आज एक औसत अमेरिकी (भारत के सही आंकड़े उपलब्ध नहीं) प्रतिदिन सात घंटे टेलीविजन देखता है। इस तथ्य से प्रतीत होता है कि एक और युग परिवर्तन आरंभ हो गया है।

सैकड़ों वर्ष पहले मौखिक शिक्षा का जो युग शुरू हुआ था, उसने अंततः लिखित परंपरा का स्थान ले लिया। शायद अब इतिहास स्वयं को दोहरा रहा है। बीसवीं शताब्दी के सातवें-आठवें दशक में टेलीविजन की लोकप्रियता बढ़ी और अब आने वाले समय में इंटरएक्टिव टेलीविजन (ऐसा टेलीविजन जिससे आप संवाद भी कर सकेंगे) का प्रयोग बढ़ने के साथ वह एक नए युग में प्रवेश करने वाला है।

लेकिन टेलीविजन मौखिक परंपरा का ही अंग है। इससे यह सवाल उठ

रहा है कि क्या हम एक बार फिर मौखिक संवाद परंपरा की ओर लौट चले हैं? नया घटनाक्रम तो यही बताता है, फिर भी इसका निर्णय भविष्य करेगा।

डैस्कटॉप प्रकाशन

इलेक्ट्रॉनिक प्रकाशन की चर्चा डैस्कटॉप मुद्रण का उल्लेख किए बिना अधूरी रह जाएगी। डैस्कटॉप मुद्रण सुविधाजनक होने के कारण भारी लोकप्रियता हासिल कर चुका है। हर कंप्यूटर धारक एक लेजर या इंकजेट प्रिंटर की मदद से इस सुविधा का लाभ उठा सकता है और न्यूज लैटर, समाचारपत्र तथा पत्रिका का मुद्रण कर सकता है। कम प्रसार संख्या और छोटे आकार वाली पत्र-पत्रिकाएं मुद्रित करने के लिए यह तकनीक सस्ती और सरल सिद्ध हुई है। इसमें घर में लगे कंप्यूटर पर ही एक व्यक्ति टाइपसेटिंग और मुद्रण का काम निपटा सकता है।

इस तकनीक में पृष्ठ की साज-सज्जा इलेक्ट्रॉनिक ढंग से की जा सकती है और यदि बड़ी संख्या में छपाई करनी हो तो लेजरप्रिंटर से प्रिंट लेकर कैमरे से उसका निगेटिव तैयार करके प्लेट भी बनाई जा सकती है। इस तरीके से समय के साथ-साथ उत्पादन पर आने वाले लागत मूल्य की भी भारी बचत संभव हो गई है।

डैस्कटॉप मुद्रण क्रांति वस्तुतः पर्सनल कंप्यूटर और लेजरप्रिंटर तथा वर्ड प्रोसेसिंग साफ्टवेयर प्रोग्राम के कारण संभव हो सकी। इसका श्रेय एपल कंप्यूटर कंपनी के मेकनतोष कंप्यूटरों और मैक्राइड वर्ड प्रोसेसिंग साफ्टवेयर प्रोग्रामों को है। माइक्रोसाफ्ट का वर्ड प्रोसेसिंग प्रोग्राम भी काफी लोकप्रिय है। इसमें उपभोक्ता के लिए कई अतिरिक्त सुविधाएं उपलब्ध कराई गई हैं।

सच्चाई यह है कि डैस्कटॉप मुद्रण तकनीक ने छपाई के व्यवसाय पर बड़ी कंपनियों के एकाधिकार को पूरी तह समाप्त कर दिया है। भारत जैसे देश में भी, जहां अनेक चिंतक-विचारक एक आंदोलन के रूप में लघु पत्रिकाएं निकालते हैं और उनकी पाठक संख्या सीमित है, यह तकनीक निरंतर लोकप्रिय हो रही है।

कुल मिलाकर इलेक्ट्रॉनिक टेक्नोलॉजी ने भविष्य के लिए अपरिमित संभावनाओं के द्वार खोल दिए हैं। वीडियोटेक्स, इलेक्ट्रॉनिक डाटा बेस सेवा, इलेक्ट्रॉनिक समाचारपत्र, आडियो टेक्स, फैक्स पेपर, ई-मेल और डैस्कटॉप मुद्रण निरंतर विकासमान इलेक्ट्रॉनिक प्रकाशन उद्योग के ही महत्वपूर्ण चरण हैं। इलेक्ट्रॉनिक टेक्नोलॉजी के इस युग में विचारण के साथ एक बात स्पष्ट हो गई है कि सूचना व समाचार केवल लिखित नहीं, दृश्य रूप भी ले सकते हैं। उन्हें कागज पर ही नहीं, टी.वी. अथवा कंप्यूटर के परदे पर भी पढ़ा-देखा जा सकता है। लिखने का युग समाप्त नहीं हुआ है। लेकिन क्या भविष्य में ऐसा हो सकता है? निस्संदेह, यह प्रगति और विकास समस्याओं से मुक्त नहीं है। इसमें एक बहुत बड़ा खतरा समाचार-सूचनाओं का संपन्न वर्ग तक सिमट जाने का भी है। लेकिन समाधान भविष्य के समाज और सरकारों के हाथ में होगा।

ई-मेल

कभी वैज्ञानिकों और कंप्यूटर विशेषज्ञों तक सीमित इलेक्ट्रॉनिक-मेल अब दुनिया-भर में व्यापक रूप से प्रयोग होने वाला माध्यम बन गया है। संचार के इस नए तरीके में अपनी भाषा में संदेश का विवरण तैयार करके उसे किसी दूसरे व्यक्ति के घर या कार्यालय में रखे कंप्यूटर पर भेज दिया जाता है। यह वीडियोटेक्स प्रणाली का ही विस्तार है। ई-मेल ने लिफाफा लेकर उस पर डाक

टिकट लगाकर डाकखाने पहुंचाने या पत्र पेटी में डालने जाने की जहमत को समाप्त कर दिया है।

ई-मेल का आरंभ अमेरिकी रक्षा विभाग द्वारा 1969 में शुरू किए गए विश्व संचार नेटवर्क (इंटरनेट) के साथ हुआ। इसका उपयोग सरकारी कार्यालयों, व्यावसायिक प्रतिष्ठानों और शिक्षा संस्थानों के अलावा निजी संदेशों के आदान-प्रदान के लिए बेहद तेजी से बढ़ा है और बहुत कम समय में ही इसका विस्तार अविश्वसनीय रूप से हुआ है। अब परिचय कार्ड (विजिटिंग कार्ड) पर टेलीफोन और फ़ैक्स नंबर के साथ ई-मेल का पता भी स्थान पाने लगा है। यह न केवल काफी सस्ता है वरन् संदेश देने-लेने में समय की भी भारी बचत करता है।

लेकिन इसमें एक दोष यह है कि यह गलत पते पर पहुंच सकता है और कोई गैर व्यक्ति भी आपके संदेश को प्राप्त कर सकता है। कंप्यूटर में जंक (गड़बड़ी) भी एक और समस्या के रूप में सामने आया है। लेकिन कमियों और त्रुटियों के बावजूद ई-मेल की लोकप्रियता दिन-ब-दिन बढ़ रही है। भारत में विदेश संचार निगम लिमिटेड के माध्यम से ई-मेल उपभोक्ताओं की संख्या दो लाख हो रही है। अमेरिका में तो यह दो करोड़ की विशाल संख्या को पार कर चुकी है।

लैपटॉप

यूरोप में पत्रकार समुदाय के मध्य लैपटॉप (कंप्यूटर) खासा लोकप्रिय हो चुका है। इसका उपयोग आठवें दशक में शुरू हो गया था। एक ही दशक में यह पत्रकारों का आवश्यक उपकरण बन गया। लैपटॉप में अब टेलीफोन की सुविधा भी उपलब्ध हो गई है। परिणामस्वरूप इस पर इंटरनेट संपर्क भी संभव है। आज यूरोपीय देशों में लगभग 90 प्रतिशत पत्रकार लैपटॉप का प्रयोग कर रहे हैं। नई सदी में देश के पत्रकारों के कामकाज का यह एक बुनियादी साधन बनने जा रहा है। यह मोबाइल फोन की तरह बैटरी से चलता है। इसका सबसे बड़ा लाभ यह है कि पत्रकार घटनास्थल से अपने कार्यालय को घटना का विवरण सीधे भेज सकता है और उसी प्रकार समाचार के संबंध में कार्यालय से आवश्यक दिशा-निर्देश भी प्राप्त कर सकता है।

जनसंचार तकनीक के इस विकासात्मक घटनाक्रम को ही सूचना क्रांति नाम दिया गया है। यह उचित भी है। लेकिन बात इतनी सीधी नहीं है। विकास की इस बेहद तेज रफ्तार और सतत प्रवाह ने भारत और उस जैसे या उससे भी पिछड़े हुए देशों के समक्ष विभिन्न समस्याएं भी उत्पन्न कर दी हैं। सीमित संसाधनों वाले इन देशों के पास न तो पश्चिमी राष्ट्रों की तरह पूंजी की बहुतायत है और न वैसी अधुनातन तकनीक तथा संसाधन ही हैं। अतः उन्हें अपनी हर आवश्यकता के लिए उन्हीं देशों पर निर्भर रहना होता है। और तो और समाचारों के लिए भी वे यूरोपीय एजेंसियों पर ही निर्भर रहने के लिए विवश हैं। यूनेस्को द्वारा इस सिलसिले में गठित सीन मेकब्राड आयोग की रिपोर्ट के अनुसार तीसरी दुनिया या अवििकसित देशों की स्थिति से यह तथ्य रेखांकित होता है कि पचहत्तर प्रतिशत अंतर्राष्ट्रीय समाचारों का प्रेषण पश्चिमी देशों की मात्र चार समाचार एजेंसियों द्वारा किया जाता है। ये एजेंसियां हैं- अमेरिका की एसोसिएटेड प्रेस और यूनाइटेड प्रेस इंटरनेशनल, ब्रिटेन की रायटर और फ्रांस की एजेंसी फ्रांस प्रेस। मेकब्राड आयोग की रिपोर्ट में सूचनाओं के मुक्त प्रवाह के उद्देश्य को पूरा करने के लिए 82 सिफारिशों की गई हैं। इस महत्वपूर्ण रिपोर्ट में विशेष रूप से जोर देकर कहा गया है कि दुनिया में नई अर्थव्यवस्था को ध्यान में रखते हुए विकासशील देशों

की विशिष्ट जरूरतों के अनुरूप सूचनाओं का मुक्त और संतुलित प्रवाह आवश्यक है।

इस संबंध में अमेरिकी मीडिया विद्वान हरबर्ट शिलर ने कहा है : 'अमेरिका के इलेक्ट्रॉनिक आक्रमण से पहले तक तीसरी दुनिया के ज्यादातर देशों की स्वदेशी और प्रामाणिक परंपराएं तथा सांस्कृतिक विरासत कायम थी, जिस पर नैतिक आदर्शों का अंकुश रहता था। लेकिन इस हमले के कारण उन दुर्बल समाजों की सांस्कृतिक पहचान दांव पर है जो अभी तक अपनी राष्ट्रीय, क्षेत्रीय, स्थानीय या जनजातीय विरासत को अधुण बनाए हुए थे। आधुनिक इलेक्ट्रॉनिक जनसंचार प्रणाली के विस्तार ने उनकी इस विशिष्ट पहचान को ही संकट में डाल दिया है।'

इसी तरह मास कम्युनिकेशन एंड अमेरिकन एंपायर में शिलर कहते हैं : 'अमेरिकी मीडिया-संस्कृति उपभोक्तावाद को बढ़ावा देने के स्मबल उद्देश्य से प्रेरित है और इसीलिए वह पूंजीवादी वैश्वीकरण के लिए इतनी उपयोगी है। और यही वह लक्ष्य है जो उसको पूंजीवादी विश्व-व्यवस्था के लिए इतना उपयोगी बनाता है।'

शिलर के इस सटीक विश्लेषण से एक निष्कर्ष तो यह निकलता है कि कोई भी व्यवस्था जितनी ही जटिल हो जाएगी, पूंजीवाद की पकड़ भी उतनी ही मजबूत हो जाएगी। दूसरी बात यह कि यदि मनुष्य की जीवन पद्धति सरल और जटिलताओं से मुक्त हो जाएगी तो ऐसी व्यवस्था की उपयोगिता तथा आवश्यकता ही समाप्त हो जाएगी। स्पष्ट है कि पूंजीवादी व्यवस्था की शक्ति जीवन-शैली को उलझाने में है, सरल बनाने में नहीं। रहन-सहन, भोजन, चिकित्सा अथवा जनसंचार, कोई भी क्षेत्र हो, हर नया आविष्कार या अनुसंधान पहले से चली आ रही व्यवस्था को पेचीदा ही बनाता है।

जनसंचार के क्षेत्र में भी इस तथ्य को भलीभांति देखा जा सकता है। पहले किसी अखबार का प्रकाशन शुरू करने के लिए सारे इंतजाम कुछ हजार रुपये में हो जाते थे। लेकिन अब इस काम के लिए लाखों रुपये की जरूरत पड़ती है। अब यह संभव ही नहीं रह गया है कि समाज सेवा या जनहित के उद्देश्य के लिए कोई व्यक्ति मामूली पूंजी लगाकर अखबार निकाल सके। जाहिर है कि अब यह का बड़ी पूंजी वाले घरानों या प्रतिष्ठानों के लिए ही संभव रह गया है।

यहां यशस्वी पत्रकार बाबूराव विष्णु पराड़कर के 1925 में व्यक्त उद्गार का उल्लेख समीचीन होगा। उन्होंने वृंदावन हिंदी साहित्य सम्मेलन में अध्यक्षीय भाषण देते हुए कहा था : 'पत्र (समाचार पत्र) सर्वांग सुंदर होंगे आकार बड़े होंगे, छपाई अच्छी होगी, कल्पकता होगी, गंभीर गवेषणा की झलक होगी और मनोहारिणी शक्ति भी होगी, ग्राहकों की संख्या लाखों-लाखों में गिनी जाएगी। यह सब होगा, पर पत्र प्राणहीन होंगे। पत्रों की नीति देशभक्त, धर्मभक्त अथवा मानवता के उपासक महाप्राण संपादकों की नीति न होगी- इन गुणों से संपन्न लेखक विकृत मस्तिष्क समझे जाएंगे, संपादक की कुर्सी तक उनकी पहुंच भी न होगी। वेतनभोगी संपादक मालिक का काम करेंगे। वे हम लोगों से अच्छे होंगे। पर आज भी हमें जो स्वतंत्रता प्राप्त है, वह न होगी। वस्तुतः पत्रों के जीवन में यही समय बहुमूल्य है। इंग्लैंड और अमेरिका के पत्रों ने उसी समय सच्चा काम किया था। जब उनके आकार छोटे थे, समाचार कम होते थे, ग्राहक थोड़े थे, पर संपादक की लेखनी में ओज था और प्राण था। उन देशों की उन्नति के

अमृता शेरगिल के चित्र

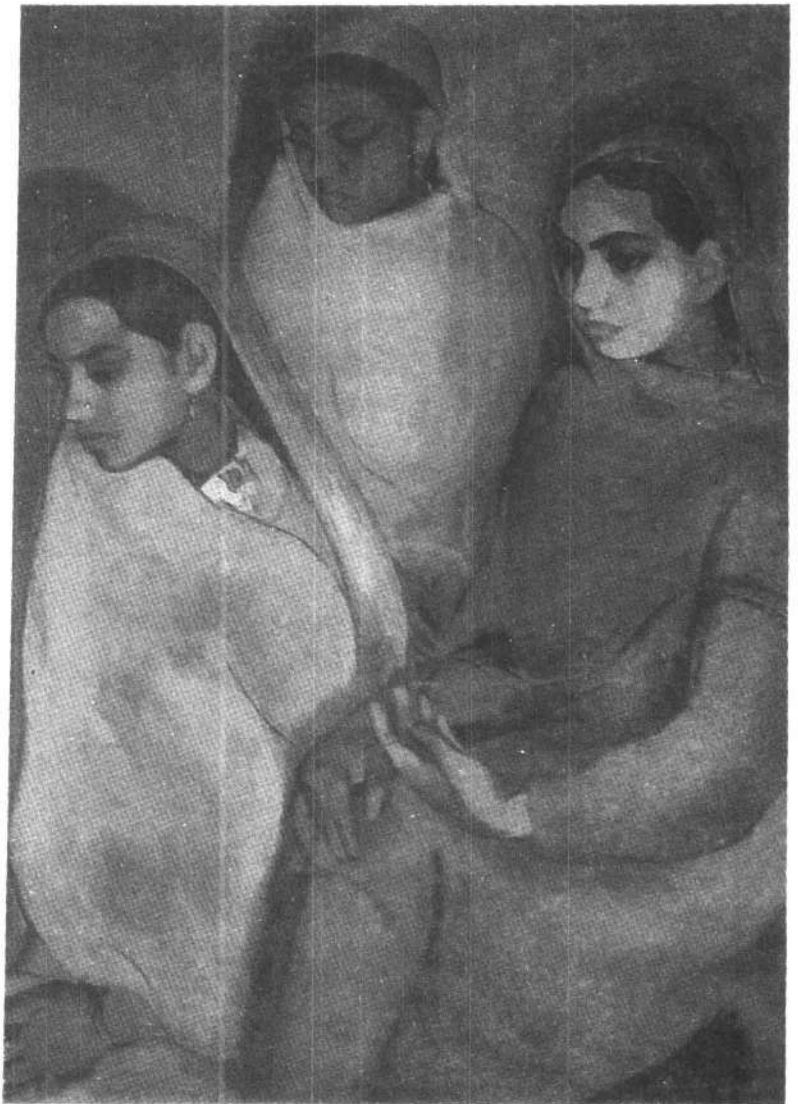
टूटे सपनों की उड़ान

अमृता के चित्रों में गति नहीं है लेकिन उसमें एक आत्मा है, एक आत्मीयता है— यही उनके चित्रों की विशेषता है। दरअसल, आत्मीयता और संवेदना ही किसी चित्र को महानता देती है, जिसके लिए चित्रकार की अनुभूत संवेदना का बड़ा महत्व है। संवेदना ऊपर से थोपी नहीं जा सकती। सच्चाई तो यह है कि अमृता के मन की करुणा और मर्माहत विषाद की तीव्रतर अनुभूति ही उनके चित्रों में अपना रूपाकार ले बैठी है। बड़ी-बड़ी आंखों की अनिश्चितता और भय से वारत पुतलियां, सहज और निष्प्रभ आकृतियां, चुपचाप किसी नियति को स्वीकारता—सा विवश वातावरण— इतना बोझिल और अवसाद भरा है कि मन पर अपना करुण प्रभाव छोड़े बिना नहीं रहता। प्रख्यात चित्रकार अमृता शेरगिल की कलाकृतियों पर जगदीश चंदिकेश

कल्पना की उड़ान जब किसी यथार्थ के ठोस धरातल से टकराती है, तो सब कुछ कितना विषादमय होता है— यह देखना हो, तो अमृता शेरगिल के चित्र देख लिए जाएं। उनके तमाम चित्र, जो उन्होंने भारत में आकर बनाए, एक व्यापक संवेदना, विषाद और करुणा की जीती-जागती तस्वीर है।

सन् 1913 की 30 जनवरी को बुडापेस्ट में जन्मी, हंगेरियन मां और सरदार उमराव सिंह की यह बेटी युवा होकर जब भारत लौटी, तो पेरिस के आर्ट स्कूल में चित्रकला की शिक्षा के साथ भारत के बारे में बहुत कुछ सुन आई थी।

तरुणाई के स्वप्न तो सुहाने होते ही हैं और उस कलाकार के, जो फ्रांस में वैभव और संपन्नता के बीच पली हो, स्वप्नों के बारे में सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उसने भारत के बारे में क्या-क्या सोचा होगा, कैसी-कैसी आशाएं और आकांक्षाएं संजोई होंगी? लेकिन उसे यहां आकर जब यह लिखना पड़ा, तो



अमृता शेरगिल की कृति 'तीन लड़कियां'

कितनी वेदना रही होगी उसके मन में! उसने लिखा :

'सुंदर हरे-भरे मैदानों में धीरे-धीरे चलते-फिरते काले शरीर, दुखी चेहरे, अत्यंत कृश, दुबले-पतले स्त्री और पुरुष- ऐसे दिखाई देते हैं, जैसे छायाचित्र चल रहे हों और उनके ऊपर एक अकथनीय उदासी का साम्राज्य छाया हो।'

अमृता की कल्पना की उड़ान तो यथार्थ से टकराकर चूर-चूर हो ही गई, साथ ही इसकी उदासी के अकथनीय साम्राज्य ने उसे आकर घेर लिया। वह उसके समूचे कृतित्व और व्यक्तित्व पर हावी हो गई।

कोई-सा भी चित्र उठा लीजिए, वह इसी अकथनीय उदासी और व्यापक संवेदना से ओत-प्रोत मिलेगा। सच्चाई तो यह है कि अमृता के मन की करुणा और मर्माहत विषाद की तीव्रतर अनुभूति ही उनके चित्रों में अपना रूपाकार ले बैठी है। बड़ी-बड़ी आंखों की अनिश्चितता और भय से ग्रस्त पुतलियां, सहज और निष्प्रभ आकृतियां, चुपचाप किसी नियति को स्वीकारता-सा विवश वातावरण- इतना बोझिल और अवसाद भरा है कि मन पर अपना करुण प्रभाव छोड़े बिना नहीं रहता।

चाहे अमृता के 'केला बेचने वाले', 'नींबू वाले', 'बाजार की ओर जाते हुए लोग', दक्षिण भारत के ग्रामीणों, पर्वतीय पुरुषों और औरतों के चित्र ले लें या 'ब्रह्मचारी', 'तीन जवान लड़कियां', 'दुल्हन का शृंगार' शीर्षक चित्र ले लें, हरेक में एक अजीब ठंडापन, निष्क्रियता और विवशता है, जो बिना कहे ही सब कुछ कह देती है, मानो चित्र किसी व्यक्ति विशेष की स्थिति-परिस्थिति का चित्र न होकर पूरी समाज-व्यवस्था का चित्र हो।

ऐसा मालूम पड़ता है जैसे, यह यहां की एक चारित्रिक उपलब्धि हो। लोग किसी नियति के साथ बंधे बैठे हैं। जो कुछ भाग्य में है, वे उसे सहज स्वीकार कर उसका बोझ उठाने के लिए गर्दन झुकाए तैयार हैं। इस अकर्मण्यता को अमृता का पश्चात्य समाज में पला मन कैसे सह लेता? शायद, यह उसकी ही प्रतिक्रिया है, जो हरेक चित्र में परिलक्षित है।

अमृता के चित्रों में गति नहीं है, लेकिन उनमें एक आत्मा है, एक आत्मीयता है- यही उनके चित्रों की विशेषता है। दरअसल आत्मीयता और संवेदना ही किसी चित्र को महानता देती है, जिसके लिए चित्रकार की अनुभूत संवेदना का बड़ा महत्व है। संवेदना ऊपर से थोपी नहीं जा सकती। यह तो कलाकार के अपने निजी व्यक्तित्व की देन है। अमृता जैसी संवेदना उनका समकालीन या बाद का कोई अन्य कलाकार अपने चित्रों में उकेर नहीं सका, यद्यपि कोशिश बहुत की गई।

अमृता के चित्रों की दूसरी सबसे बड़ी विशेषता उनकी भारतीयता है। फ्रांस में यूरोपीय चित्रकला की पद्धति से

प्रशिक्षित अमृता पर यह आरोप लगाया गया कि उनके चित्रों में विदेशीपन है, लेकिन यह सत्य नहीं है। अमृता ने एक बार कहा भी था- 'जैसे ही मैंने भारत की धरती पर पैर रखा, मेरे चित्रों में परिवर्तन आ गया। यह परिवर्तन केवल चित्रों के विषय और आत्मा में नहीं, बल्कि शैलीगत अभिव्यक्ति में भी था। मेरी शैलीगत अभिव्यक्ति मूल रूप से भारतीय हो गई। मैंने अपनी कला के, ध्येय को स्पष्ट किया कि मैं चित्रों द्वारा भारतीय, विशेषकर गरीब भारतीयों के जीवन की व्याख्या करूंगी; कभी समाप्त न होने वाली नियति की पराधीनता और सहनशीलता की मौन प्रतिच्छाया मात्र, दुबले-पतले व भूरे रंग के शरीर, जो भद्रेपन में भी अत्यंत सुंदर हैं, को अपने कैनवास पर उतारूंगी और साथ में उस प्रभाव को भी, जिसे उनकी दुख-भरी आंखों ने मेरे ऊपर डाला है।'

अमृता शेरगिल की शैली स्वयं उनकी बनाई अपनी एक नई शैली थी। जैसा कि उन्होंने कहा था- 'मैं अपनी नई तकनीक का विकास कर रही हूँ, जो रूढ़िवादी दृष्टि से देखने पर अनिवार्यतः भारतीय तो नहीं, लेकिन पाश्चात्य भी नहीं है।' उन्होंने यह भी कहा था- 'जिसे चित्रकला की शिक्षा कह सकते हैं, वह यथार्थ रूप से मुझे कभी नहीं मिली क्योंकि मेरी मन:स्थिति का गठन कुछ इस प्रकार का है कि कोई भी वाह्य हस्तक्षेप मुझे सह्य नहीं। मैंने सदैव अपने जीवन के सभी क्षेत्रों में अपना मार्ग स्वयं खोजना पसंद किया है।'

इसके लिए अमृता ने सन् 1936 में अजंता, एलोरा और दक्षिण भारत की यात्रा की, जिससे उन्हें अपना मार्ग खोजने में सहायता मिली। उन्होंने इससे अपनी शैली के लिए एक निश्चित रूप व आकार तथा रंग-विधान चुना। उन्होंने अजंता के सपाट रंग के उभार और प्राचीन कला के विस्तार व आंतरिकता को अपनाया।

भारतीय रंगों की विपुल संपन्नता ने उन्हें आकर्षित किया। अजंता ने भारतीय रंगों का उनकी शैली के साथ सामंजस्य बैठाने में प्रोत्साहन दिया।

प्राथमिक रूप से अमृता की शैली फ्रांसीसी है, जो फ्रांस के इंप्रेशनिज्म (प्रभाववाद) और विशेषकर फ्रांसीसी चित्रकार पॉल गोगां से प्रभावित है और उसमें भारतीय लयात्मकता तथा अवसाद का समावेश है। इस प्रकार उनके चित्रों में अतीत की मोहमयी स्मृतिपूर्ण सुंदरता और उत्साह या स्फूर्तिरहित, स्वप्नवत निष्क्रियता ने स्थान पाया है। यह कुछ-कुछ पॉल गोगां के ताहिती के चित्रों से मिलता-जुलता है। अमृता गोगां के आकारों और रंग-योजना से ही प्रभावित नहीं, बल्कि उसके नए और पुराने के शानदार सम्मिश्रण से भी प्रभावित थीं। जिस प्रकार गोगां ने ताहिती जाकर अपने लिए जो मुक्ति की भावना ढूंढी, अमृता उसे भारत में ढूंढना चाहती थीं।

गोगां का रास्ता अमृता का रास्ता था, जिस पर चलकर उन्होंने भारत की आत्मा को ढूँढ निकाला, लेकिन अमृता के चित्रों में ठंडापन, अलगाव और सब कुछ



अमृता शेरगिल की कृति 'जुंट'

छोड़-छाड़कर निष्क्रिय या विरागी हो बैठने की जो प्रवृत्ति है; वह भारतीयता की अपनी विशेषता है। यहीं आकर अमृता पॉल गोगां से अलग हो जाती हैं।

आवेशपूर्ण तीव्रता को अमृता ने अपने से परे रख छोड़ा है, वह उनके लिए बहस और विचार-विमर्श का विषय है, इसलिए उनके चित्रों में आवेश की अपेक्षा एक संतुलन है, भावोच्छ्वास की जगह नियंत्रण और संयम है।

इस प्रकार अमृता की शैली निजी और फ्रांसीसी प्रभाव से मुक्त है, जिसमें उनका अपना व्यक्तित्व झलकता है। उन्हें भारत से लगाव था, इसके प्रति उनके मन में चुंबकीय आकर्षण था। तभी तो वह अपनी कला को इस देश की धरती के साथ से जोड़ने के उद्देश्य को पूरा कर पाईं।

उनकी कला में पूर्व और पश्चिम का एक अनूठा समन्वय रहा, जिसके कारण वह समकालीन चित्रकारों में सर्वोपरि रहीं और भारत की आधुनिक चित्रकला के इतिहास का प्रथम पृष्ठ उनके कृतित्व से आरंभ हुआ।

अमृता शेरगिल का नाम भारतीय चित्रकला के इतिहास-क्षितिज पर एक धूमकेतु की भांति उभरकर आया और शीघ्र ही विलीन हो गया, लेकिन अपने पीछे एक ऐसा सशक्त प्रभाव छोड़ गया, जिसने परवर्ती भारतीय चित्रकला को बहुत प्रभावित किया।

यदि सही दृष्टि से देखा जाए तो भारत में आधुनिक कला के आंदोलन का शुभारंभ अमृता से ही होता है। जहां बंगाल शैली में मुगल और राजपूत शैली को पुनरुज्जीवित करने का प्रयास था, वहां यामिनी राय के आंदोलन में लोककला



अमृता शेरगिल की कृति 'दुल्हन'

को अभिजात कला के पद पर प्रतिष्ठित कराने का। और इन दोनों में से किसी में भी आधुनिक कला की जड़ निहित नहीं है। अगर वह कहीं निहित है तो अमृता के चित्रों में है।

अमृता की सक्रियता का कुल समय पांच-छह वर्ष का रहा। सन् 34 में पेरिस से लौटकर उन्होंने यहां जो कुछ देखा-भाला, उस पर अपनी शैली बनाई और चित्रों की रचना की। सन् 36 में अजंता-एलोरा की यात्रा के बाद कहीं उनके कृतित्व में परिपक्वता आने लगी। इसी दौरान उन्होंने अपने सर्वश्रेष्ठ चित्र 'दुल्हन का श्रृंगार', 'ब्रह्मचारी', 'दक्षिण भारतीय ग्रामीण', 'विश्राम', 'केले बेचने वाले', 'दुल्हन', 'ऊंट' आदि बनाए।

सन् 38 में वह हंगरी गई और विक्टर डगेन से शादी करके उनके साथ अगले वर्ष भारत लौटीं। वैवाहिक जीवन भी उनके खंडित सपनों का संसार ही रहा। इसके दो वर्ष बाद 5 दिसंबर, 41 को 28वर्ष की उम्र में उनका देहांत हो गया। अल्पायु में देहांत हो जाने से उनके कृतित्व के महत्व को उनके सामने आंकने का अवसर ही नहीं मिला। लेकिन, उसने एक प्रभाव जरूर छोड़ा, जिसे आगे ले जाने और यथेष्ट स्थान दिलाने में के.के. हैबबार और श्यामबक्ष चावड़ा का प्रमुख हाथ रहा। अमृता और हैबबार दोनों ही समकालीन और पॉल गोगां के प्रशंसक तथा अनुयायी रहे।

प्रेमल चौधरी, सुधीर सोजवाल, ए.ए. रॉयबा, के.एस. कुलकर्णी, अलमेलकर, चेतन आर्य, बी. प्रभा, लक्ष्मण पै, कुमारिल स्वामी, श्रीनिवासलु आदि अनेक चित्रकार अपने प्रारंभिक दौर में उनकी कलाधारा के साथ रहे और उन्होंने अमृता के प्रभाव को स्पष्ट रूप से स्वीकारा भी। □



अमृता की कृति 'संगीतकार'

"नारी-मुक्ति आज भी दिवास्वप्न है!"

वरिष्ठ कथा-लेखिका व उपन्यासकार मृदुला गर्ग से कमाल अहमद की बातचीत

चर्चित कथा-लेखिका व उपन्यासकार मृदुला गर्ग समकालीन भारतीय साहित्य में किसी परिचय की मोहताज नहीं हैं। विवादास्पद और बहुचर्चित उपन्यास *चितकोबरा* की लेखिका व नारी-स्वातंत्र्य की प्रबल समर्थक मृदुला गर्ग बगैर किसी लेखक समूह से जुड़े आज भी साहित्य जगत में स्वतंत्र पहचान बनाने के लिए लेखन-कर्म में व्यस्त हैं। प्रस्तुत है उनसे हुई बातचीत के प्रमुख अंश :

साहित्य-लेखन में महिलाओं की क्या स्थिति है, और उनका मूल्यांकन किस प्रकार किया जाता है?

भारतीय इतिहास में नारी और दलितों की स्थिति एक समान रही है। जहां तक साहित्य लेखक का सवाल है, वहां भी महिलाओं को मुख्यधारा से काटकर देखा जाता है, महिला-लेखन की एक उपजाति बना दी गई है। भारतीय समाज, नारी के परिवर्तन के प्रयासों को, संस्कृति का अवमूल्यन मानकर बराबर खारिज करता आया है और आज भी कर रहा है। मेरी रचना के साहित्यिक मूल्यांकन में जो आड़े आ रहा था, वह मेरा औरत होना था। कोई लेख या पुस्तक देख लीजिए, साहित्य का इतिहास हो या विवेचन-पुरुषों द्वारा लिखे साहित्य का लेखा-जोखा होने के बाद आता है, अंतिम अनुच्छेद या अध्याय। नाम महिला-लेखन। और उसमें वेतमाम लेखक टूंसमटूंस घुसाए जाते हैं, जो लिंग से स्त्री हैं, लेखन का कथ्य चाहे जो हो। अपवादस्वरूप, इक्का-दुक्का महिला को लाजवाब लेखिका सिद्ध करने से पूरा परिप्रेक्ष्य नहीं बदलता। मेरे लेखन का जो आज तक, पूर्वाग्रहरहित, तर्कसंगत और साहित्य सम्मत मूल्यांकन नहीं हुआ, उसका एक कारण मेरा औरत होना है। साहित्य के इतिहास के मुख्य पृष्ठों से निकालकर हाशिए या पुनश्च में डाला जाना, कहीं बड़ा नुकसान है। अपूरणीय क्षति।

ऐसे हालात में आप अपनी पहचान किस प्रकार बना पाई ?

मेरा लेखन सन् सत्तर के आसपास शुरू होता है। असल में, शुरू के सात-आठ साल, लोग मुझे और मेरे लेखन को खूब बर्दाश्त करते रहे। बल्कि जिस गर्मजोशी के साथ मेरी शुरूआती कहानियां सभी साहित्यिक व लोकप्रिय पत्रिकाओं में छपीं, उसने मेरा हौसला खासा बुलंद कर दिया। मैंने जब लिखना शुरू किया तो बरसों, मुझे यह अहसास नहीं हुआ कि मर्द के बजाय मेरा औरत होना, उसमें कहीं आड़े आता है। शादी होने तक मुझे मालूम नहीं था कि स्त्रियों को राजनीति आदि गंभीर विषयों पर चिंतन करने की मनाही है। या कुछ विषय ऐसे भी हैं जिन पर मर्द कलम चला सकते हैं पर औरतें नहीं। शादी हुई तो मैं दिल्ली शहर छोड़कर बिहार के एक औद्योगिक कस्बे डालमिया नगर जा बसी। वहां जरूर कुछ ऐसा हुआ जब दावतों में मैंने मर्द-औरत के सामने, बेहिचक,

हर विषय पर, अपने विचार रखे तो लोग पहले चौंके। मेरे पति भी। हम जानते हैं कि जंगल में कोई नई प्रजाति घुस आए तो, पहले से वहां रहने वाले जंतु चौंक उठते हैं। और अपने बचाव करने की फिर्क में आक्रमण कर बैठते हैं। पर यदि उस प्रजाति का आगमन बना रहे तो उन्हें आदत पड़ जाती है। उसी तरह, वहां भी लोगों को, एक औरत को खुलेआम बैठकखाने में अपने विचार रखते देखने की आदत पड़ गई।

आपकी कहानियां दांपत्य जीवन की रूढ़ नैतिक मान्यताओं को तोड़ती हैं...

आखिर, लेखन तो किया ही जाता है— सोई हुई अनुभूतियों और खोई हुई जिज्ञासाओं को दुबारा जगाने के लिए। चौंकते दो तरह के लोग हैं। एक वे जो पूरी तरह सोए न हों, पर न जगने की ठान चुके हों। दूसरे वे, जो इतनी गहरी नींद में हों कि जबर्दस्त आघात पड़ने पर आंख खुले तो गुस्से का आर-पार न रहे। पर लेखक तो इतनी गहरी नींद कभी नहीं सोता, न जगने की कभी ठानता नहीं। ठान ले तो लिखे कैसे? लिखना तो दूर, साहित्य



मृदुला गर्ग

पढ़े भी कैसे? जहाँ तक रूढ़ नैतिक मूल्यों को तोड़ने की बात है, वह तो उसके हिस्से की धूप और एक और अजनबी में कहीं ज्यादा दूर तक हुआ था। मैं तो यह मानती हूँ कि सापेक्षी संस्कृति के अवशेषों और पिछड़े संस्कारों से लड़े बिना नारी-मुक्ति आज भी दिवास्वप्न है। 1979 में चितकांबरा छपा, जंगल एकजुट होकर मुझ पर टूट पड़ा। अपना हमला फिर कभी वापस नहीं लिया। यह उपन्यास बर्दाश्त क्यों नहीं होता। इसलिए कि वह मर्द के अहं पर चोट करता है, खासकर शादीशुदा मर्द के अहं पर। जो अपना रोज का अनुभव हो, जिसकी सच्चाई हमारे एहसास का हिस्सा हो, उसे लिखा देखकर बर्दाश्त वह कर सकता है, जिसका दिमाग खुला हो और दिल साफ।

क्या ऐसा नहीं लगता कि आपका अधिकांश लेखन महानगरीय जीवन से संबद्ध है ?

ऐसी बात नहीं है। मैंने ग्रामीण जीवन को केंद्र में रखकर भी कहानियाँ लिखी हैं, और वे चर्चित भी हुईं जैसे, 'पोंगल पोली', 'तीन किलो की छोरी', 'उधार की हवा', 'दो एक फूल' (चेक भाषा में अनूदित) आदि। पर चूँकि मेरा लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा, जीवन-यापन शहरों में ही हुआ, इसलिए शहरी जीवन-स्थितियों का अनुभव मेरे लेखन में अधिक मुखर है। नगरीय जीवन पर भी तो हिंदी में अधिक नहीं लिखा गया है। इसलिए एक खालीपन मेरे लेखन से भरता है।

आप यह जानती हैं कि उपभोक्ता-संस्कृति का सबसे अधिक प्रभाव नारी के व्यक्तित्व और उसकी अरिजिता पर पड़ रहा है ?

नारी को आज विज्ञापन के रूप में इस्तेमाल किया जा रहा है। लोग सिर्फ यह सोचते हैं कि स्त्री घर की शोभा बनी रहे, जैसे भौतिक उपकरणों का संचय ही उसकी नियति हो। नारियों में भी वर्ग-विभेद की स्थिति है, जिनके पास पैसा है, उन पर उपभोक्ता-संस्कृति का प्रभाव अधिक पड़ रहा है। पश्चिम में इंसान की कद्र, खासतौर पर इंसानी रिश्तों की कद्र, इसलिए कम हो गई है, क्योंकि मानवीय संवाद व स्पर्श की जगह, उपभोग की वस्तुओं ने ले ली है। जीवन की हर खुशी 'वस्तु' में तलाश की जाने लगी है, यहाँ तक कि दूसरे इंसानों की उपस्थिति उसमें बाधक अनुभव होने लगी है। अगर वहाँ समस्या अति उपभोग की है, तो अपने यहाँ अति-अभाव की है। अपने यहाँ लोग नारी की बौद्धिक संपदा को न आँककर उसका मूल्यांकन भौतिक संपदा से करते हैं।

आप अपने एक उपन्यास अनित्य में यह सूचना देती हैं कि 'हमारा लक्ष्य एक सोशलिस्ट सामाजिक संगठन की स्थापना का है...'

भारत की वर्तमान लड़ाई ज्यादातर मध्य क्षेणी के बलबूते पर लड़ी जा रही है, जिनका लक्ष्य बहुत सीमित है। यदि देश की लड़ाई लड़नी हो तो मजदूर, किसानों और सामान्य जनता को आगे लाना होगा, उन्हें लड़ाई के लिए संगठित करना होगा। हमारा समाज एक इलीटिस्ट समाज है। आजादी जब मिली तो सत्ता इलिट के हाथों में आई, जनता केवल बक्से में वोट डालने का काम करती रही। आज हमारी आर्थिक नीति का स्वरूप ही यह हो गया है कि हम हरदम इस कोशिश में रहते हैं कि पश्चिम के पूँजीवादी देशों में जो ऊँचे दर्जे का रहन-सहन है उसकी टक्कर का रहन-सहन हमारे इलिटों का भी हो, चाहे इसके लिए आम जनता को पीने का पानी या पेट भर खाने की माँग को भी क्यों न नजरंदाज करना पड़े।

भारत में समाजवाद का स्वस्थ विकास संभव हो सका है या

हो सकता है ?

अव्वल तो यह देखना चाहिए कि समाजवाद अपनी अवधारणा के रूप में क्या कहता था, और उसके व्यावहारिक पक्ष क्या हैं? व्यवहार में लाने पर उसमें किसके कारण और कितनी विकृतियाँ आईं। उसे व्यवहार में लाने वालों की नीयत साफ नहीं थी, वे भ्रष्ट थे या उसकी अवधारणा में ही कहीं त्रुटि थी। समाजवाद को परिभाषित करने वाले प्रथमतः जीवन-दर्शन और समाजशास्त्र के विश्लेषण में अपनी दृष्टि साफ रखें। जब समाजवाद आया, उस आदर्श रूप में उसे व्यवहार में नहीं लाया गया जिसकी परिकल्पना मार्क्स, एंगल्स या भगत सिंह ने की थी। पूँजीवाद का जो रूप मार्क्स ने देखा था, वैसी स्थिति यहाँ नहीं है। मार्क्सवाद का भारतीयकरण करके उसे अपने अनुरूप ढालकर ही हम अपनी स्थितियाँ और इतिहास बदल सकते हैं।

तब लेखक की प्रतिबद्धता क्या होनी चाहिए ?

जहाँ तक लेखक का सवाल है, उसकी प्रतिबद्धता केवल लेखन से होती है। और साहित्य-लेखन की प्रतिबद्धता उस सच से होती है, जिसे लेखक अपनी दृष्टि से देखता-परखता है और जिसे अभिव्यक्ति देने के लिए वह नए शब्द व अर्थ खोजता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि किन्हीं लेखकों की जीवन दृष्टि, किसी प्रचलित व मर्यादित विचारधारा से प्रभावित नहीं हो सकती। बेशक हो सकती है। आखिर हमारा भाव बोध व मानस, केवल अनुभूति से नहीं, अध्ययन से भी निर्मित होता है। एक या अनेक स्थापित व नवोदित विचारधाराएँ व जीवन दर्शन, उसे प्रभावित करते हैं। यह भी हो सकता है कि इस प्रक्रिया में, कुछ लेखकों का कहानी लेखन किसी एक विचारधारा से प्रतिबद्ध होकर रह जाए और वे आगे सोचने-विचारने या प्रश्न करने से कतराने लगें। पर इस संकुचित व भयातुर, जोखिम उठाने से कतराती प्रवृत्ति को, साहित्य का मूल्य बनाकर कदापि स्थापित नहीं किया जा सकता। और हिंदी में पिछले साठ-सत्तर वर्षों से यही होता आया है। मजे की बात यह है कि आज मार्क्सवाद के अपने गढ़ में उसके विघटन के बाद भी भारत में स्थिति वहीं की वहीं है।

इसका मतलब साहित्य का संबंध विचारधारा से है !

यह सवाल ठीक किया आपने। देखिए बिना सामाजिक सरोकारों के कोई साहित्य लिखने को प्रेरित ही नहीं होगा। जिस समाज में हम रहते हैं, वहाँ बहुत-सी चीजों से हमारी चेतना निर्मित होती है आप जब किसी चीज से असंतुष्ट होते हैं, उसे नकारते हैं तो आपकी मनोभूमि में द्वंद्व की स्थिति उत्पन्न होती है, नया विचार आता है। नकार के बिना कोई सरोकार ही नहीं होगा। हर लेखक की जीवन दृष्टि बदलती रहती है। उसमें द्वंद्व की स्थिति उत्पन्न होती है और वह परिवर्तन चाहता है। उसी से मूल्य व्यवस्था बदलती है और आप साहित्य रचना करते हैं। विचारधारा अनुभव और अध्ययन से निर्मित चेतना का ही अंश होती है। हाँ, इतना अवश्य है कि सिर्फ विचारधारा से बंधकर उज्जकोटि का साहित्य नहीं लिखा जा सकता। विचारधारा परोक्ष में रहे और पात्र प्रमुख हों, अपना जीवन जिएँ, वही उत्कृष्ट रचना होती है।

साहित्य को राजनीति से जोड़ना कहां तक उचित है ?

राजनीति तो जीवन के हर क्षेत्र को प्रभावित करती है, पर उसका अर्थ नीति से लेना चाहिए, राज्य चलाने की नीति, आपसी अखाड़ेबाजी से नहीं। साहित्य को नीति से संबंध तो रखना ही होगा पर अखाड़ेबाजी उसका नुकसान करेगी अगर साहित्यकार, अन्य क्षेत्रों पर टिप्पणी करना चाहता है तो उसे अनेक विषयों का अध्ययन करना होगा, मसलन अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, पर्यावरण, दर्शन, चिकित्सा

प्रणालियाँ आदि। उदाहरण के लिए अरुंधती राय के 'नर्मदा बचाओ' वक्तव्यों और धरनों को जो प्रचार मिला है, उससे अनेक लेखक यही सब करने को छटपटाने लगे हैं। यहां हमें याद रखना चाहिए कि अब्बल तो, 'नर्मदा बचाओ आंदोलन' 20-25 साल पुराना है और मेधा पाटकर, बाबा आस्टे के बावजूद सरकार की नीति में कोई मूल परिवर्तन नहीं हुआ है। दूसरे, असली मुद्दा बांध

की ऊंचाई के भाव का नहीं, तमाम बड़े बहुउद्देशीय बांधों को बनाने की नीति को बदलने का है। नारेबाजी में कभी-कभी असली मुद्दा दब जाता है। मुझे लगता है, इस मामले में वह साहित्यकार सबसे खराब प्रोपेगेंडा करता है जो नीतिगत अध्ययन करने के बजाए शब्दजाल बुनने लगता है और नीति परिवर्तन के बजाए सहानुभूति की मांग करता है। □

विशेष प्रतिक्रिया

भारतीय चित्रकला में बाजारवाद एवं कला समीक्षा

मार्च अंक में देव प्रकाश का कला संबंधित आलेख 'बीसवीं शताब्दी के आइने में भारतीय चित्रकला' काफी रोचक तथा सारगर्भित लगा। बीसवीं सदी में कला के क्रमिक उत्थान तथा प्रगति के विषय में अच्छी जानकारी मिली। 'शान्ति निकेतन' तथा 'सर जे. जे. स्कूल ऑफ आर्ट्स' ने चित्रकला के विकास में अच्छी भूमिका निभाई है पर मूर्तिकला के क्षेत्र में लखनऊ भी पीछे नहीं रहा है। लेखक ने प्रख्यात कलाकारों, यथा- सर्वश्री अवनींद्रनाथ ठाकुर, रवींद्रनाथ ठाकुर, नंदलाल बसु, राजा रवि वर्मा, एन. एस. बेंद्रे, मकबूल फिदा हुसैन तथा सतीश गुजराल आदि की चर्चा के साथ-साथ उनके चित्रों को भी प्रस्तुत करके वास्तव में कलात्मक भूमिका का ही निर्वहण किया है। पर साठ के दशक में शोहरत हासिल करने वाले मकबूल फिदा हुसैन की लेखक ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है जिसके वह वास्तव में हकदार नहीं मालूम होते हैं। यह ठीक है कि उनमें प्रतिभा है, कला-कौशल है पर एक कलाकार में जिस मर्यादा और शालीनता का समावेश होना चाहिए, इसका उनमें पूर्णतः अभाव है।

जहां तक बाजारवाद का सवाल है तो इस विषय में यही कहा जा सकता है कि जब सभी क्षेत्रों में इसका प्रवेश होता रहा है तो

फिर कला भला इससे अछूती कैसे रह सकती है? आज के इस घोर संघर्ष के जमाने में किसी भी कलाकार के समक्ष रोजी-रोटी का सवाल अहम है और इसके लिए वह जुगाड़ न करे तो उसके लिए स्थापित होना तो दूर, टिकना भी कठिन हो जाएगा। कला सामग्री भी महंगी हो गई है और कलाकार जब अपनी कला को कला-दीर्घा में प्रदर्शित करने की व्यवस्था करता है तभी तो अर्थ का संचय हो सकता है। इन कला-दीर्घाओं के विकास में हुसैन तथा गुजराल की प्रमुख भूमिका से इनकार नहीं किया जा सकता। कला आज अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर चर्चित हो रही है और इस प्रकार स्वाभाविक रूप से बाजार का भी विस्तार हो रहा है। इसमें पैसा, शोहरत और मान- सभी कुछ मिला रहा है। अब इसमें आदमी कभी-कभी अपने स्थानीय परिवेश से कटता हुआ भी दिखाई देता है पर कभी-कभी बड़ी चीजों की प्राप्ति की मंजिल तक पहुंचने के लिए छोटी-छोटी चीजें सामान्यतया लोगों की नजर से दूर हो जाती हैं।

आज की उपभोक्तावादी तथा बाजारवादी संस्कृति में एक कलाकार भी शोहरत और पैसे के पीछे अश्व-गति से दौड़ लगा रहा है। सबको आगे बढ़ने की ललक है। ऐसी दौड़ में चित्रकार या कलाकार और

दर्शक के मध्य का रिश्ता भी नकली और खोखला होता जा रहा है। कलात्मक सृजन में कलाकार में ऊंचाई पर पहुंचने के लिए न तो दृढ़ इच्छाशक्ति है और न ही जोश-खरोश क्योंकि वह मांसल और मोहक सौंदर्य का चित्रण करने में ही कला के संदर्भ में उस एकाग्रता, निष्ठा और साधना को भूल गया है जिसकी आज सच्ची आवश्यकता है। कलाकार में आज तपोपूता साधना की कमी अखरने वाली बात है। इन सारी चीजों को हवा देने में मीडिया और टी.वी. के विभिन्न चैनलों की भागीदारी कम करके आंकी नहीं जा सकती है।

लेखक द्वारा इंगित किए गए इस तथ्य से भी इनकार नहीं किया जा सकता है कि पश्चिम की तुलना में यहां कला की समीक्षा में भी विपन्नता है। दर्शक कलात्मक वस्तुओं के क्रय में रुचि तो लेता है पर उसकी आलोचना और समीक्षा जैसे विषयों में मायापच्ची करना उसके बस का रोग नहीं है। वस्तुतः स्थापित समालोचक भी कला की आलोचना से परहेज करते हैं। फिर कला का विकास कैसे संभव है?

मुझे आश्चर्य है कि आलेख में 'मधुबनी आर्ट' या 'मिथिला पेंटिंग' की कतई कोई चर्चा नहीं की गई है। बीसवीं सदी में मधुबनी की चित्रण कला शीर्ष पर विराजमान रही है जिसमें

ग्रामीण सादगी, लोक-पर्व के कार्यकलाप और गृहस्थी में डूबी-पगी मिथिला की नारियों की सरलता एवं दुधमुंही सादगी को उकेरा गया है।

इसकी भी तारीफ की जानी चाहिए कि गरीबी के कारण कला-सामग्री के अभाव में भी सीता देवी जैसी कलाकारों ने *रामायण* और *महाभारत* के प्रसंगों के साथ ही सामयिक चीजों को भी कुशलता से चित्रित किया है।

कला में निष्ठातः ऐसे लोगों के प्रति आज उपेक्षा बरती जा रही है, इस तथ्य को भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। कला को नया आयाम प्रदान करने में बिहार के तत्कालीन रेलमंत्री स्व. ललित नारायण मिश्र ने भी सकारात्मक भूमिका निभाई है। उनके प्रयास से उस समय चलने वाली एक विशेष ट्रेन के डिब्बों में भी 'मधुबनी कला' का दिग्दर्शन कराया गया था। कपड़ों पर इस चित्रकारी का एक विदेशी बाजार बन गया था और इस प्रकार इस कला को प्रोत्साहन मिला था।

अतः देवप्रकाश के कला से संबंधित इस लेख में इसकी जानकारी देकर इसे जानबूझकर तथा रुचिकर बनाया जा सकता था।

—अमरनाथ मेहता, मुजफ्फरपुर

सब कुछ कह लेने के बाद का मौन

सर्वेश्वर समकालीन हिंदी कविता की व्यापक जनवादी चेतना के प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी कविताओं में लोकोन्मुखता घनीभूत रूप में मौजूद है। गहन मानवीय करुणा से प्रेरित संघर्षशीलता, उदात्त सौंदर्यबोध, बेआस-परेशानहाल-सताए हुए लोगों का वृहत्तर समुदाय और प्रकृति की अनुकंपा पर निश्चल विश्वास सर्वेश्वर की कविताओं को व्यापक अर्थ में जीवन संदर्भों से जोड़कर मूल्य प्रदान करते हैं। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की काव्य चेतना की चर्चा विजय कुमार सिंह द्वारा

सर्वेश्वर समकालीन हिंदी कविता की व्यापक जनवादी चेतना के प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी कविताओं में लोकोन्मुखता घनीभूत रूप में मौजूद है। गहन मानवीय करुणा से प्रेरित संघर्षशीलता, उदात्त सौंदर्यबोध, बेआस-परेशानहाल-सताए हुए लोगों का वृहत्तर समुदाय और प्रकृति की अनुकंपा पर निश्चल विश्वास सर्वेश्वर की कविताओं को व्यापक अर्थ में जीवन संदर्भों से जोड़कर मूल्य प्रदान करते हैं।

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की कविताओं में आस्था-अनास्था, जीवन-मरण, व्यथा-गाथा, श्रद्धा और घनघोर अश्रद्धा, भाव-कुभाव-दुर्भाव-सद्भाव, मौन व मुखर स्वर, लोक-अलोक, डूबना-तिरना, रिश्ता-अजनबीपन सबके स्वर गुंजायमान हुए हैं। उनके यहां मौन भी है तो मुखर है- सब कुछ कह लेने के बाद का मौन। वह कहते हैं :

सब कुछ कह लेने के बाद
कुछ ऐसा है जो रह जाता है
तुम उसको मत वाणी देना!

('सब कुछ कह लेने के बाद')

यह सब कुछ कह लेने के बाद बचे हुए को वाणी न देने वाला उनका मौन उनके पावन विश्वासों की छाया है, उनके गूंगे अभ्यासों की पूंजी है। इसी से वह अपने रचनाक्रम को संवारे हैं, सजाते हैं, फैलाते हैं, स्वर देते हैं। इसी के द्वारा एक शब्द भी कहे बिना जो कहना है, कह जाते हैं :

क्या हुआ यदि हमारे-तुम्हारे बीच
एक भी शब्द नहीं
मुझे जो कहना है कह जाऊंगा
यहां इसी तरह अदेखा खड़ा हुआ!

('तुम्हारे लिए')

सर्वेश्वर की कविताएं दर्पण के चटकने की कविताएं हैं जिसमें एक आकृति मरती रहती है, चाहे वह आदमी की हो या ईश्वर की। यह चटकना या

दरकना मानव के अंतर की टूटन को, उसके ऊपर बढ़ते दबाव को, बदलते रिश्तों को, नए और व्यापक परिप्रेक्ष्य में लिए जाते मूल्यों को उद्घाटित करता है। उनके शब्द जहां जिंदगी को तलाशते हैं वही तथाकथित मृत्यु को भी वरण करते हैं:

शब्द जिन्हें मैं बुनता हूं
मर चुके हैं
शब्द जिन्हें मैं सुनता हूं
मर चुके हैं
संबंध जिन्हें मैं जीता हूं
मर चुके हैं
संबंध जिन्हें मैं बीता हूं
मर चुके हैं!

('इस मृत नगर में')

बुने जाते शब्द को मृत बताने के बावजूद सर्वेश्वर के यहां रचे जाते हैं स्वर संसार, गढ़ी जाती हैं संगीत लहरियां, सजाए जाते हैं सूने मंदिर की देहरी जहां काठ की घंटियां भी बज उठती हैं :

मेरा रोम-रोम देहरी है
सूने मंदिर की
सजो,
ओ काठ की घंटियो
सजो
बजो
ओ काठ की घंटियो
बजो!

('काठ की घंटियां')

यहां तक कि इसी के बल पर वह अपनी जिजीविषा को बचाए रखते हैं। अपनी इच्छाओं को संबल प्रदान करते हैं। 'सूखी रंगों में शेष ध्वनि' को तजने का आवाहन करने के बावजूद वह उसी के सहारे अपने 'खोए प्यार के वापस लौटने' तथा अपनी अंधी आस्था



सर्वेश्वर दयाल सक्सेना

को गीत गाने की प्रेरणा देते हैं, उन्हें विश्वास है कि :

शायद कल

मेरे यूगे स्वर्गों के सहारे

कोटि-कोटि कंटों की खोई शक्ति बोल दे!

और इसी विश्वास के बल पर वह फूट रहे समस्त दर्द को, समस्त वेदना को पुनः पुनः संस्कारित होने, फिर से मंजने की बात कहते हैं।

सर्वेश्वर की कविता लंबी चोंच वाली चिड़िया की कविता है। वह कोरे कागज पर बैठी मिलती है। परंतु वह महज बैठी है। शब्द उसके भी मौन हैं— जैसे जो कहना था कह दिया। इस कह देने के बाद उसके कंठ अवरुद्ध हैं।

सर्वेश्वर की करामाती चिड़िया उसी स्वर को चुपचाप पीती दिखती है जो अनकहे और कहे के बीच में है, जो संवाद और मौन को एकाकार किए हुए है :

चोंच वह खोलती नहीं

फुदकती बोलती नहीं

हिलती है न डुलती

चुपचाप घुलती

बताती न नाम है

करती न काम है

फिर भी सुबह को

बना देती शाम है!

(‘जब कलम उठाता हूँ’)

और यहीं पर सर्वेश्वर महसूस करते हैं कि हर बात का एक मतलब होता है, असमर्थताओं की भी अपनी संभावनाएं होती हैं। घास का हिलना भी कुछ बोल जाता है। हवा का खिड़की से आना और धूप का दीवार पर चढ़कर चले जाना भी अनकहे को कहने का अर्थ देने का, संश्लेषित करने का प्रयास है। यद्यपि उन्हें नहीं पता कि नन्ही जान चिड़िया भी ‘क्यों सहमती है, क्यों डरती है, क्यों खामोश होती है, क्यों चहचहाती है।’ इतने अनजानेपन के बावजूद सब कुछ कह डालने का प्रयास करता कवि कुछ भी नहीं कह पाने की विवशता से ग्रस्त है। शब्द रुद्ध हो रहे हैं, खामोशी ही बोलती है :

व्यथा की मार से

शब्दों के छिन जाने पर भी

खामोशी बोलती है!

(‘तीमारदासी’)

शब्दों का व्यथा की मार से छिन जाना अंतर की टूटन है, पीड़ा को पीना है, वेदना को जीना है। गहन आस्था के बावजूद कवि को आभास है कि अंदर से वह खंडित होता जा रहा है :

मैं चुप रह जाता हूँ

कैसे कहूँ कि मैं भी

जगह-जगह से फट गया हूँ!

(‘जूता-1’)

इसी कारण कवि सब कुछ कह लेने के बाद भी जो निःशेष है उसको

वाणी देने से हिचक रहा है। वह इस अनकहे को अपने युग से ऊपर, भावी मानव की याती बताता है जो ध्वंस और नारा से बड़ा है। वही उसके जीवन भर का संचित श्रम है, वही आस्था है जिसके सहारे रेत में भी नौका खेते जाने का संबल मिलता है। उसी अनकहे से हर गति को नया जन्म मिलता है। उसी से भटकी आत्मा को अर्थ मिलता है। वही टूटे मन की सामर्थ्य है।

कवि में हिचक है कि उस सामर्थ्य को, उस संबल को, उस अर्थ को, गति को, श्रम को, याती को प्रकट करे या न करे। वह उसे कोमल, स्फटिक, देवत्व की कड़ी, सौंदर्य का प्रतिमान, आनंद का स्रोत मानता है। इसी कारण उसको प्रकट करके, उसे वाणी प्रदान करके वह नष्ट नहीं करना चाहता।

कवि का मानना है कि यह बड़ी मुलायमियत से बचाए रखने की चीज है क्योंकि इसी से नया लोक, नई सृष्टि, नए स्वप्नों का सृजन होता है। वही है कवि की कृति का स्रोत, जड़ मूल। अतः कवि अपने को ‘बस उतना ही’ बताता है जितना कि वह अप्रकट खामोश अनकही वाणी है— सब कुछ कह लेने के बाद का स्वर। वह कहते हैं :

आग मेरी धमनियों में जलती है

पर शब्दों में नहीं ढल पाती!

अथवा

लौट आया मैं बिना कुछ कहे

शब्द पड़ने लगे छोटे

दर्द बढ़ने लगा

कहे भी थे जो कभी— सब हो गए अनकहे!

इस प्रकार सर्वेश्वर की कविताओं में जो नहीं कहे गए, न सिर्फ वही अनकहे हैं वरन वेदना के व्यापक होते ही कहे भी अनकहे होने लगे। शब्द रूप पाते ही व्यक्तित्व का बहुत कुछ बदल जाता है, ऐसा सर्वेश्वर का मानना है :

शब्दों की खोज शुरू होते ही

हम एक-दूसरे को खोने लगते हैं!

और तब भीतर की अनुभूति कवि सर्वेश्वर को बेचैन कर डालती है जो अंततः खामोशी में परिणत हो जाती है :

मेरे भीतर की यह पागल कोयल

तब मुझे पागल कर जाएगी

मैं बूढ़े पेड़ों की छांह नापता रहूंगा

और पत्तियां गिनता रहूंगा

खामोश!

(‘मेरे भीतर की कोयल’)

पत्तियां गिनते हुए खामोश रह जाने की विवशता ही सर्वेश्वर की विवशता है बहुत कुछ कह चुकने के बाद भी बहुत कुछ उनके यहां शेष है जो अंतर में लगातार घुट रहा है, आलोड़ित किए हुए है। कहे से भी अधिष्ठा शेष का बचे रहना सर्वेश्वर के बारे में बताता है कि वह चुके नहीं हैं बल्कि वह उसकी ओर इशारा करके असीम संभावनाओं के द्वार खोल रहे हैं। वह संभावनाएं ही उनकी कविता की जान हैं। उन्हीं से इनके मुकम्मल अर्थ बनते हैं।

और शायद इसी बिंदु पर आकर वह अपने समकालीनों से भिन्न दिखते हैं— बिल्कुल अलग पांत के अगुवा कवि की तरह। □

शाल-वन का आखिरी पेड़

अशोक प्रियदर्शी

रेखांकन : संजीव शाश्वती



बादल बरसे, चमक रहे हैं नवल शाल के पात!

—नागार्जुन

पीटर बाबू ने आज दिन में ही कुछ ज्यादा 'हंडिया' चढ़ा ली थी और अब, जब नशा उनके सर पर चढ़ गया था, वे चीख-चिल्ला रहे थे— "मोयं बड़-बड़ रेंजर आ फोरेस्टर के देख रहे हैं, साला! ई साहू आ हे बड़का रेंजर देखायक वाला, देख लेमूँ इके भी, सार!"

टोले वालों ने उन्हें टोका, "का ले गुल करत हिस, नेता! जास्ती खा-पी लेहिस, तो जाके सुइत रह।"

लेकिन इस सदुपदेश का पीटर बाबू पर कोई असर नहीं होना था, "साला! हमारा आदमी लोग को जंगल में पकड़ा और धमकाया कि कागज-पत्तर देखाओ! इस बार भर छोड़ देते हैं, अगली बार से देखेंगे, तो चालान कर देंगे! सार, इकर बाप कर जंगल आहे? सगर फोरेस्टर, फोरेस्ट-गार्ड के महीना देत हौं, आ ई आइझ, नावा-नावा आके कानून पढ़त हे! अच्छा!"

शाम को जब पीटर बाबू का नशा थोड़ा कम हुआ, तो वे बाबू झम्मन सिंह से मिलने निकल गए।

झम्मन सिंह भी आरा-मशीन के मालिक थे, लेकिन धंधे में पीटर बाबू से कहीं अधिक होशियार थे। लकड़ी के कारोबार से आते पैसों को वे कई दूसरे धंधों में भी फंसाते चले जा रहे थे। क्योंकि वे जानते थे, इस धंधे में स्पर्द्धा बढ़ती जा रही है, खतरे बहुत हैं और बड़ी बात यह कि बहुत दिनों तक यह सब चलने वाला नहीं है...

पीटर बाबू ने थोड़ी-बहुत राजनीति करके इलाके में लीडरी करने की कोशिश की, लेकिन किसी पार्टी वाले ने उन्हें खास घास न डाली। एम.एल.ए. के चुनाव में एक बार खड़े हुए, तो जमानत जम्त हो गई। उनकी लीडरी का लाभ उन्हें इतना ही मिला कि उन्होंने भी एक आरा-मशीन बिठा ली और उनका कारोबार भी ठीक-ठाक चल निकला। लोग उन्हें 'पीटर नेता' के नाम से ही जानते थे।

बहरहाल, उस शाम पीटर बाबू से बड़े उत्साह के साथ मिले झम्मन बाबू। हाल-चाल हुआ। फिर पीटर ने कहा— "झम्मन, तोयं तो दस रंग कर ब्योपार पसार दे हिस, होसियार आदमी हकिस नी! मोर सोंच! पेट जिआवे कर एक ठो आरामसीन देके, आ ई साला नावा रेंजर बड़ा कनुनची आय जा हे! का करेक चाही, सेकर सलाह-बात करेक आ हौं। तोहें कोनो रस्ता के निकलाव।"

झम्पन सिंह ने पीटर नेता से कहा, "भाई, नेता तो तुम्हीं हो इलाके के! इलाका तुम्हारा है। राजनीति तुम्हीं जानते हो। जाके बात करो। हमसे रुपये-पैसे की जो मदद कहो, कर दें।"

इसके बाद दोनों ने गुपचुप जाने क्या सलाह की और तैयारी पाया कि अगली शाम रेंजर साहब से मिलने दोनों जाने जाएंगे। पीटर नेता के टाल पर पहुंच जाएंगे झम्पन सिंह और फिर वे साथ हो लेंगे। बातचीत में 'लीड' पीटर ही लेंगे।

अधेड़ हो चले साहू जी सीधे-सीधे फॉरेस्ट-रेंजर नहीं हुए थे, नीचे से ऊपर आए थे। उनका परिवार शहर के पुरतैनी आवास में ही रहता था। असल में, भाइयों में बंटवारा हो चुका था। अपने परिवार में वे, उनकी पत्नी और बच्चे थे, बस। फिर, बेटे-बेटियां कालेज जाने लगे थे। जाहिर है, इन सब कारणों से बच्चों के साथ उनकी मां का शहर में ही रहना आवश्यक था।

जब साहू जी अन्यत्र पदस्थापित थे, तो वहां के पियन वगैरह उनका खाना पका देते थे और यों दिन कट जाता था, मगर यहां की हालत विचित्र थी। सारे गार्ड-चपरासी नशे में धुत रहते, साहू जी का खाना क्या पकाएंगे! इस कस्बे का हाल यह था कि कायदे का एक होटल तक नहीं था जहां रेंजर साहब पेट भरने की जुगत कर सकें। खाने-पीने से उन्हें कोई परहेज नहीं था, लेकिन इस नई जगह पर अभी कोई डौल बना नहीं था और सूखे वेतन से अपना घर-परिवार सम्हालें कि खुद को! उनका प्रमोशन हुए भी अभी ज्यादा दिन नहीं हुए थे।...

पीटर और झम्पन ने अपने प्रक्रिया सूत्रों से साहू जी का सारा इतिहास-भूगोल पता कर लिया और निश्चित कार्यक्रम के अनुसार अगली शाम वे रेंज-ऑफिस में थे।

"परनाम सर।" पीटर नेता और झम्पन सिंह का सम्मिलित स्वर था।

"आइए!" कुछ संभ्रम के साथ साहू रेंजर ने उन्हें बुलाकर लॉन में पड़ी सरकारी कुर्सियों पर बिठवाया और प्रश्नसूचक मुद्रा में उन्हें देखा।

बात पीटर ने आगे बढ़ाई। झम्पन सिंह की ओर इशारा करते हुए कहा, "सर, ई हैं बाबू झम्पन सिंह। टाउन के रईस हैं और बड़का बिजनेसमैन हैं। और, सर, हम छोटा-मोटा सोशल-वर्कर हैं, पीटर। जीने-खाने के लिए कुछ रोजी-रोजगार भी कर लिया है। मेरा घर तो यहीं, रेंज ऑफिस के पीछे वाले

टोला में है और बाबू झम्पन सिंह का तो कै ठो बंगला सब हैं। मेन रोड वाला मकान में रहते हैं?"

झम्पन सिंह ने खीस निपोर दी, "बंगला क्या रहेगा, सर, एक ठो झोपड़ी है मेन रोड पर। गद्दी भी वहीं है। कभी आया जाए न, सर!"

बातों के छोर को पीटर नेता ने धाम लिया और धीरे-धीरे रेंजर साहब की आत्मीयता जगा ली, "सर, इतने दिनों से आप यहां अकेले रह रहे हैं। खाने-पीने की दिक्कत होती होगी!"

"सो तो है।" रेंजर साहब ने स्वीकृति सूचक सिर हिलाया।

इस पर झम्पन बाबू ने पीटर को टोका, "साहब का डेरा संभराने के लिए कोई छौंड़ा-छौंड़ी, धांगर-धांगरिन काहे नहीं खोज देते हो?"

पीटर ने साहब को आश्वासन दिया, "हं, सर, एक-दू दिन में कोई धांगरिन-नौकरानी खोज दंगे, घर का सब काम-काज उसरा देगी, खाना-ऊना बना देगी।" फिर झम्पन की ओर देखकर कहा, "आउर, झम्पन, तो यं साहब कर बंगला पर देख ले कि का-का इंतजाम घटत है। तोर ठइन तो एतना आदमी आहैं, ऊ मन से जरूरी-जरूरी चीज-बतुस के भेजवाय दे।"...

"अब हुकुम हो, सर! हम लोग चलते हैं। सब इंतजाम हो जाएगा।"

पीटर और झम्पन उठकर चलने लगे, तो बड़े संकोच के साथ रेंजर साहब ने कहा, "देखिए न, मेरी हालत यह है कि आप लोगों को एक प्याली चाय तक नहीं पिला सकता!"

"क्या कहते हैं, सर! आप तो परदेसी हैं, हम लोगों के मेहमान हैं। इंतजाम तो हम लोगों को ही करना है। सब ठंडा-गरम पिएंगे बाद में।"

पीटर और झम्पन ने अपने-अपने घर की राह ली।

अगली सुबह झम्पन सिंह के आदमी एक ठेले पर 'फ्रिज' लदवाए, रेंजर साहब के आवास पर पहुंचे, "बाबू भेजे हैं, सर, कि साहब के बंगला पर रख आओ।"

पीछे से आकर झम्पन बाबू की कार रुकी, "सर, आपके लिए खरीदना थोड़े ही पड़ा है। यहां तो मिलता भी नहीं है। घर में एकस्ट्रा पड़ा था। आपके यहां रहा, चाहे मेरे यहां!" और कार की डिक्की से निकालकर 'वैट 69' की कुछ बोतलें

'फ्रिज' के खानों में पहुंचा दी गई।

जिस समय झम्पन बाबू के आवास पर ठेले पर 'फ्रिज' लद रहा था, कि रेंजर साहब के यहां पहुंचा दिया जाए, ठीक उसी समय झम्पन बाबू का ट्रक, जंगल के बीच राह बनाता, शाल-वन की ओर चल पड़ा था।

दूसरे दिन शाम को पीटर नेता, अठारह-बीस वर्ष की एक लड़की को साथ लिए, रेंजर साहब के क्वार्टर में प्रविष्ट हुए। दुआ-सलाम के बाद रेंजर साहब को उन्होंने बताया, "इसी को लेते लाए हैं, सर! आपके घर का सारा काम-काज करेगी। गरीब लड़की है, जुलिया। एक-डेड एकड़ खेत था, सो बेच-बाचकर इसका बाप हंडिया-दारू पी गया और पीते-पीते मर गया। मां कूट-पीस के कमाती-खाती है। ई रेजा कमाती थी, याने ईटा- बालू के ट्रक पर मजूरी करती थी, लेकिन उस काम का क्या ठिकाना! इसका मरद टापू गया, उसके बाद से उसकी कोई खबर ही नहीं है। आपके यहां रहेगी, सर, तो इसका भी गुजारा चल जाएगा। जो वाजिब समझिए, इसको दे दिया कीजिएगा, महीना चाहे लुगा-फटा। थोड़ी देर में चूल्हा-चौका का सामान सब, बरतन-बासन वगैरह आ जाएगा, सर!" और फिर लड़की को ताकीद की, "देख, ई जंगल कर बड़का साहब हैकै। बंगला कर झाड़ू-बहारू, साफा-सुथरा करबे। साहब के नहायक ले कुइआं से पानी भरबे, लुगा कचारबे, भात रींधबे...। कोनो गलती नी होयक चाही। बूझसे?"

लड़की ने स्वीकारोक्ति-सूचक सिर हिलाया।

जिस दम पीटर नेता, जुलिया को लेकर, रेंजर-बंगला की ओर चले थे उसी समय उनका ट्रक भी शाल के घने जंगल की ओर चल पड़ा था।

थोड़ी देर बाद झम्पन के आदमी चावल-दाल, तेल-तरकारी, बरतन-बासन, याने चूल्हे-चौके के सारे सामान लेकर रेंजर-बंगले पर हाजिर हुए, "बाबू ने भेजा है, सर! किधर मड़ा दें?"

शाल के मोटे बोटे, झम्पन बाबू के ट्रक पर लदकर, बड़े शहर की ओर चल पड़े थे।

पीटर बाबू, जब-तब, रेंजर साहब के बंगले पर आकर पूछ जाते कि साहब को कोई तकलीफ तो नहीं है और जुलिया ठीक से काम कर रही है! झम्पन बाबू के आदमी आकर पता कर जाते कि 'फ्रिज' में शराब की बोतलें भरी हैं या नहीं, या फिर, घर की जरूरत की कोई चीज कम तो नहीं पड़ रही

है!

एक दिन रेंजर साहब के यहां शाल की लकड़ी के बने पलंग, सोफा और डाइनिंग-सेट आ गए। सामानों के साथ स्वयं झम्न बाबू आए और हाथ जोड़कर कहा, "जंगल आपका ही है, सर! इसमें मेरा क्या लगा है! आरा-मशीन अपनी है ही। लेबर बैठे थे, तो सोचा, साहब का बंगला भी फर्निश करवा दें।"...

शाल-बन कटता जा रहा था। पीटर नेता और झम्न बाबू की आरा-मशीनों की घरघराहट सारे दिन बनी रहने लग गई थी। बल्कि इनका गुरुमंत्र लेकर फैयाज मियां और ऐसे दूसरे कुछ लोग भी इस धंधे की कला का क-ख सीखने लग गए थे।

रेंजर साहब यदा-कदा जंगल के दौरे पर निकलते और फॉरेस्ट गार्डों को फटकार लगाकर लौट आते, "तुम लोग चोर भी हो और कामचोर भी। वन संपदा नष्ट हो रही है, धरती का सुहाग उजड़ रहा है, और तुम लोग हंडिया पीकर धुत रहते हो।"

रेंजर साहब को चावल की यह गंधातो शराब बिल्कुल रास नहीं आती थी। 'फ्रिज' में घरी विलायती शराब उन्हें सुलभ थी ही। शाम के बाद अपने बंगले में वे होते थे, शराब की बोतल होती थी और हां, जुलिया होती थी, जो भुने काजू या स्वाद बदलने को, भुने चीनियां बादाम और सेब-दाल की प्लेट साहब के सामने रख दिया करती।

पीते-पीते, कभी-कभी विनोद की मुद्रा में रेंजर साहब जुलिया से पूछते, "लेगी एक पेग?"

जुलिया शरमा जाती, "हमारे गरीब आदमी हेकी, बाबू, अंगरेजी दारू कने पाब किर हंडिया चाइख हों, "बस!" और वहां से खिसककर दूसरे कामों में लग जाती।

उधर फॉरेस्ट गार्ड जंगल की चोरी पकड़ते ही न हों, ऐसा नहीं था। अब, लाचारी यह थी कि पीटरों या झम्नों के ट्रक वे, कई तरह के प्रलोभनों और दबावों के कारण, पकड़ नहीं सकते थे, सो जलावन की लकड़ियां काटकर, बहंगी की शकल में ढोकर, कस्बे में बेचने को ला रहे, पूरे तन पर केवल 'केरिया' धारण किए गरीब, पसीने से तर-ब-तर युवा-वृद्ध या सर पर 'मुद्बोझिया' के रूप में लकड़ी का गट्टर लादकर कस्बे में बेचने को लाती युवतियां-प्रौढ़ाएं उनका शिकार बनती थीं। इन्हें गैरकानूनी ढंग से जंगल की लकड़ी काटने के दंड के रूप में जेल की हवा खिलाने की धमकी भी दी जाती और इस-उस

तरीके की दक्षिणा के बाद प्रायः उन्हें छोड़ दिया जाता था। युवतियों से अन्यथा 'दक्षिणा' वसूलने का यत्न होता था या कभी-कभार लकड़ियों के गट्टर 'सीज' करके रेंजर साहब के क्वार्टर में भिजवा दिए जाते।...

साहू रेंजर दिन-दो-दिन के लिए जब अपने शहर, परिवार से मिलने, जाते तो जुलिया अकेली ही अपना खाना बंगले में पकाती और घर की रखवाली के लिए रात को भी वहीं सो रहती। यों उसकी दैनंदिन रूटीन यह थी कि 'सुबह-सकारे' वह अपने घर से आती। साहब तब तक सोए ही रहते। उसकी दस्तक पर ही वे उठकर दरवाजा खोलते और फिर बिस्तर पर पड़ जाते। जुलिया स्टोव पर चाय बनाकर साहब को जगाती, "साहेब, चाह!"

साहब चाय की चुस्कियां लेते, फिर एक-दो सिगरेट सुलगाते और वह घर-आंगन के झाड़ू-बुहारू में लग जाती। साहब जब तक दातुन-मंजन करें, वह गुसलखाने में पानी और साहब के कपड़े रख देती। साहब अखबार उलटते-पलटते, फिर नहाते, उसके बाद, एक कमरे में टंगी, देवी-देवताओं की तस्वीरों को धूप दिखाते। जुलिया इस बीच चूल्हा सुलगाकर कुछ हल्का नाश्ता तैयार कर देती। इधर खाना भी पकता रहता।

दिन के ग्यारह के करीब साहब खाने की मेज पर बैठ जाते। जुलिया मेज पर खाने की थाली रख देती। भोजन के बाद साहब थोड़ी देर बिस्तर पर लेटते। इसी समय जुलिया नहा-बो लेती, खाना खाती, बरतन धोती। इस क्रम में दिन के बारह, साढ़े बारह होने पर, बिस्तर पर उनींदे पड़े साहब को जगाती, "जात हौं, साहेब। साईंझ पहर आवूं, होऽ!"

रेंजर साहब कभी तो सहज भाव से कहते, 'जाओ', कभी थोड़ा अधिक ही लाड़ दिखाते हुए उसकी पीठ पर एक हल्की-सी धौल लगा देते या उसके गाल प्यार से थपका देते, "जाओ! शाम को आ जाना।"

जुलिया चली जाती। बंगले से थोड़ी दूरी पर स्थित कार्यालय में साहू रेंजर आ जाते। अब कुछ ऐसा अभ्यास बनता जा रहा था कि जुलिया के बिना बंगले का भीतरी हिस्सा उन्हें उदास लगता और प्रायः, जब वो शाम को आती और स्टोव की सूं-सूं से उन्हें पता लग जाता कि चाय बन रही है, तभी वे भीतर जाते।

जंगल के दोनों बड़े ठेकेदारों, पीटर-झम्न, की आमद-रफ्त रेंजर साहब के यहां कुछ ज्यादा ही बढ़

गई थी और शामें उन्हीं के साथ खुशगमियों में गुजरतीं। ...रात का खाना-पीना हो जाने के बाद जुलिया फिर घर चली जाती, रात आठ के आस-पास।

एक शाम जुलिया को टहक कीमती नई साड़ी-बलाउज थमाते हुए रेंजर साहब ने कहा, "इतनी रात गए तुमको घर जाना पड़ता है! दिन को तो जाती ही हो। रात को यहीं रह लिया करो, इतना बड़ा तो बंगला है! कहीं सो रहना।"

सवालिया नजरों से साहब को देखते हुए, जुलिया ने धीरे से कहा, "मोर आयो से पूछ राखू। गरियाई हल...?"

सौ का एक नोट जुलिया को थमाते हुए, रेंजर साहब ने बड़ी बेतकल्लुफी से कहा, "मां को पैसे दे देना और कल शाम को उसको लिवाती आना। बात कर लेंगे। न हो, सुबह को पीटर नेता को भेज देना।"

बदस्तूर जुलिया ने उस दिन भी खाना पकाया, खिलाया, खाया और घर चली गई।

अगली सुबह जुलिया के साथ ही पीटर नेता भी आए, "क्या बात है, सर? कैसे इयाद किया गया?" नेता अनावश्यक मुस्कराए।

जुलिया चाय बनाकर ले आई। पीटर के साथ सुबह की चाय सुड़कते हुए रेंजर साहब ने अपनी कष्ट-कथा कही, "देखिए न, इतना बड़ा बंगला है। रात-बिरात कोई गेस्ट-वेस्ट आ जाए, तो बड़ी तकलीफ होती है। मैं सोचता था, ये मेड-सर्वेंट ट्वंटीफोर आवर्स नहीं रह सकती! इसका मंथली वेज थोड़ा और बढ़ा देंगे। असल में इस पर इतना डिपेंडेंट हो गया हूं न कि अपने हाथ से अब एक गिलास पानी भी घड़े से निकालकर पीते नहीं बनता। फिर, रात को अंधेरे-वंधेरे में ये अपने टोले में लौटती है। मैंने सोचा, आप से राय कर लूं..."

"नहीं, सर, ठीक तो है। यहीं रहेगी। इसकी मां को हम समझा देंगे।"

पीटर बाबू ने जुलिया को पुकारा। भीतर झाड़ू बुहारू का काम छोड़कर वह आई, तो नेता बोले, "तोके घुरी-घुरी घरे जायके से का काम है? साहेब कर बंगलाए में रह। लुगा-फटा सउब देते आ हैं। कचिआओ तोय जेतना कहबे ओतना देबैं। तोर आयो के मोय समझाय देमू। आयो से भेंट करेक मन होई हल कोनो दिन ऊ चइल आवी, चाहे तोहें दिन पहर घुइर आवे। एतना बड़ बंगला है। राइत बेरा कोनो उइन डिसीना डिसाय के सुइत रहबे। का करेक है! डिसीना-तकिया सउब साहेब जुमाय देबैं।"

जुलिया ने कुछ कहा नहीं, फिर अपने

काम-काज में लग गई। दिन का काम और दिनों की तरह ही पूरा किया और अपने घर चली गई। शाम को आई तो अपनी 'आयो' को साथ लेती आई।

"सलाम बाबू!"

"बैठो!"

रेंजर साहब ने बाजार से नई साड़ी लाकर रख छोड़ी थी। बुढ़िया को देते हुए बोले- "ये तुम्हारे लिए है। पैसे-रुपये की कोई दिक्कत-जरूरत हो, तो कहना।" फिर एकदम वीतराग-से बोले, "पीटर नेता ने तुमसे कहा होगा भरसक। रात को जुलिया यहीं रह जाया करेगी। दिक्कत होती है।"

बुढ़िया कृतज्ञता से भरी थी। बोली, "कोनोए नखे, बाबू। हुआं रहलक चाहे राउर ठिन रहलक। हुआं कौन इकर मरद-इके खोजेक आवत है? बाघ-धारा टापुए में दोसर जनी के राइख लेलक कि का!" और फिर ब्रेटी को समझा दिया, "घरे हावेक तोके का काम है? साहेब कर सेवा कर।"

बुढ़िया चली गई। इसी बीच कोई आदमी आकर एक मोटा लिफाफा रेंजर साहब को थमा गया। बोला, "झम्न बाबू भेजे हैं। पांच हैं हजार। देख लीजिएगा। बाबू खुद आते, लेकिन उनकी तबीयत थोड़ी ठीक नहीं है।"...

रेंजर साहब के लिए आज का दिन बिल्कुल ठीक जा रहा था।

जुलिया घर के काम-काज में लग गई। खाना पकाया, साहब को खिलाया। साहब खा चुके तो खुद खाया, बरतन-बोसन धोए। बाहर का दरवाजा बंद किया। रात अंधेरी थी। कमरों में बिजली के लट्ठू का मद्धिम प्रकाश था।

रेंजर साहब के पास थोड़े संभ्रम के साथ आकर जुलिया बोली, "साहेब, ऊं बट ओसरा में मोय सुइत रहत हौं। बोरा जुन धरल आहे, उके डिसाय लेत हौं।"

साहब के पलंग से सटी मेज पर अंग्रेजी शराब की बोतल खुल चुकी थी। नशे का रंग आंखों में उतर

चुका था। उन्होंने गौर से जुलिया को देखा। काला, पर पानीदार चेहरा। कसा शरीर। छोटे, काले घुंघुराले केश।

अपने गिलास की शराब लिए हुए वे उठे, "सो जाना, लेकिन आज तो तुमको यह अंगरेजी शराब पिलाऊंगा ही।" और जुलिया का हाथ पकड़कर, साहब ने उसे खींचकर अपने बाजू में बिठा लिया, गिलास उसके होठों से लगा दिया। जुलिया की सांस तेज धौंकनी की तरह चलने लगी- धक्! धक्!...

अंधेरी रात में ठीक उसी दम दूर शाल-वन के आखिरी पेड़ की जड़ पर पीटर बाबू के मजदूरों के कुल्हाड़े चल रहे थे- खट! खट!

शाल का आखिरी पेड़ थोड़ी देर में अरराकर गिर गया और उसके टुकड़े करके ट्रक पर लादने की व्यवस्था होने लगी।

झम्न बाबू का ट्रक इसी जंगल के दूसरे छोर से लकड़ी लादकर अभी-अभी शहर की ओर गया था। □

पत्र

पृष्ठ 6 से आगे 1,

पाठकों की पत्रकारिता

● सदोष हिसारी का पत्र 'पाठकों का महत्व' पढ़ा। वस्तुतः सदोष हिसारी ने पाठकों के महत्व को जो दर्शाया है वह काबिले गौर है। पाठक ही पत्र-पत्रिकाओं को एक सही दिशा देते हैं परंतु पाठक आज भी उपेक्षित हैं। अब वह समय आ गया है कि पत्र लेखने के लिए पाठक को सम्मानित किया जाए। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि साहित्य तथा पत्रकारिता जगत में पाठकों को छपे पत्रों के आधार पर सम्मान दिया जाना चाहिए। मैं सदोष हिसारी को साधुवाद देना चाहता हूँ कि जिन्होंने पाठकों के पत्रों के महत्व को उजागर किया है। पाठकों के पत्रों के महत्व को उजागर करते हुए विद्वान लेखक

आनंद शर्मा ने एक पुस्तक लिखी है जिसका नाम *पाठकों की पत्रकारिता* है। इस पुस्तक में लेखक ने संपादक के नाम पत्र कालम के लिए पाठकों के छपे पत्रों पर विशद वर्णन किया है। वस्तुतः अब संपादक के नाम पत्र लिखने वाले पाठकों का महत्व बढ़ गया है।

उर्मिला शिरीष की कहानी 'धरोहर' स्तरीय तथा मनभावना लगी। सुरेंद्र प्रसाद साह की कहानी 'पोसपूत' ने हृदय को झकझोर कर रख दिया। पोसपूत बनने के बहाने चनरा तथा सिरचन ने जो किया वह वाकई सुनरी काकी के लिए सरदर्द बन गया। ऐसी कहानी के लिए लेखक को अनेक साधुवाद।

कविताओं में अधिकांश कविताएं समझ में नहीं आईं। शायद इन दिनों न समझ आने वाली कविताएं स्तरीय मानी जाती हैं। भारत भूषण का गीत 'किसके हुए' नईम के गीत 'बीच धार में', राजेंद्र उपाध्याय की कविता 'हो सके तो'

तथा दिवा भट्ट की कविता 'सूर्यास्त' अच्छी लगी।

-जयप्रकाश मिश्र, शिवहर, (बिहार)

लेख से कम नहीं

● साहित्यिक बहस-मुबाहिसे को जिस तरह यह पत्रिका गतिशील कर रही है, वह हिंदी जगत के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण बात है। अंक विशेष पर पाठकीय प्रतिक्रिया जितने विस्तार और रोचकता के साथ आप प्रस्तुत करते हैं, वह किसी बेहतरीन लेख से कम पठनीय नहीं होती। बाल विशेषांक पर प्रस्तुत पाठकीय पत्रों में मुकम्मल समीक्षा नजर आई। पाठकों के इतने सजग और जागरूक पत्रों को पढ़कर कहां प्रतीत होता है कि हिंदी पाठक विपन्न है?

अंक के सभी लेख, कहानियां और कविताएं अच्छी हैं। कमल गुप्त से बातचीत एक सार्थक प्रस्तुति है। फिराक से संबंधित नवीन जानकारी देने के लिए भवदेव

पाण्डेय बधाई के पात्र हैं, पर पिपासा ज्यों की त्यों बनी रही। माजदा असद के विस्तृत आलेख में जानकारी तो है, पर विवेचन हल्का है। उन जैसी विदुषी के स्तर से न्याय नहीं हो सका है। उद्धरणों की अधिकता ने समीक्षात्मक रुख को दबा दिया है, फिर भी सामग्री खूब है।

-शंभुनाथ तिवारी, भीलवाड़ा (राजस्थान)

नई पहचान

● आज जबकि हिंदी साहित्य का हास हो रहा है और अंग्रेजी साहित्य का दिन-प्रतिदिन विस्तार हो रहा है। इस स्थिति में हमारे पास एकमात्र साधन है जो कि हमारे साहित्य प्रेमियों को संगठित करता है और हमारे साहित्य को विस्तृत करने की जिम्मेदारी बखूबी निभा रहा है; वह है हमारी यह मासिक पत्रिका आजकल !

-राजेंद्र सिंह कुंवर 'फरियादी', सिरसेड (उत्तराखंड)

मैंने तुम्हें देखा नहीं

मैंने तुम्हें देखा नहीं, और शायद देखा भी नहीं
तुम्हारे पास भूखी आंखों को जीत ले जाने की शक्ति थी,
प्रकाश का एक भाला तुमने सीने में फेंका होता, उत्तर ध्रुव के
हिमगिरि को निगलने वाली तुम्हारी उस जलती प्यास में मेरी आत्मा
अकूलाई होती; मैं छटपटाया होता, लड़खड़ाया होता
रात के जबड़े में अपनी वेदना की गर्दन देकर
सिसक-सिसक कर रोया होता...लेकिन मेरे पैर नहीं उगे होते
क्योंकि प्यास से आंख भले ही उगे, वेदना से पैर नहीं उगते

गीता से पैर नहीं उगते और उपनिषदों से भी पैर नहीं उगते
यही तो सामान्यों की शोकांतिका है...बाएं पैर की संकरी त्रिज्या से ही
हरेक को अपने जीवन का एक अर्ध वर्तुल बनाना होता है...
उसे पूर्ण करने की अपनी प्यास इस फिसलन भरी मिट्टी में तुम मत बोना
हे असामान्य, मैं अपना जखम आज तुम्हारे सामने खोलने वाला हूँ,
आज मैं तुम्हें धोखा नहीं दूंगा....
मैंने तुम्हें देखा नहीं और शायद देखा भी नहीं होता!

हे ब्रह्ममत्त !

व्यथा की पपड़ी उठाकर जिन्होंने जीवन को देखा है
उनके नयनों की आरती
आज तुम्हारे सामने आएगी
मुड़ी भर प्रकाश हो या मुड़ी भर अंधेरा
इन दोनों को करुणा में भीगी मिट्टी का
आधार चाहिए- इस श्रद्धा की रिसने वाली खुरकी
तुम्हारे गले में पैदा हुई थी
उस गले में गिटार था
लेकिन तुम मध्यम पर नहीं रुके; और कानों की दीवारें हुईं
अनंत ने यह कौर जल्दी निगला...लेकिन तुमने उसे
बहुत जल्दी नहीं कहा होता, निकलने के पूर्व ही तुम वहां
पहुंच गए थे...तुमने जल्दी नहीं कहा होता ...
और फिर भी तुकाराम के झांझ का एक ठेका
आज पहली बार चूक गया है; शोकार्त हुआ है ऐ ब्रह्ममत्त !
व्यथा की पपड़ी उठाकर जिन्होंने जीवन को देखा है
उनके नयनों की आरती
आज तुम्हारे सामने आएगी!

दंतकथा

कहते हैं कि अमेरिका में एक एकाक्ष कुबेर है
वह साल भर गिनता रहता है अपनी ही कारें
और अपने शरीर पर उगे सुनहरे बाल,
लेकिन उनमें से अधिक कौन,
यह उसे अभी तक ज्ञात नहीं हुआ!

कहते हैं कि फ्रांस में एक शराब का व्यापारी है
उसके साल भर में कमाए नफे को गिनने के लिए
फ्रेंच सरकार को सात वर्ष लग जाते हैं,
उसके अकेले के
इन्कम टैक्स में से
फ्रेंच लश्कर एक महायुद्ध का खर्च निकालती है

कहते हैं अफ्रीका में कांगो नदी के प्रवाह के नीचे
ब्रिटिशों की बनाई एक बड़ी सुरंग है, उसमें पड़ी
हर खोपड़ी से एक वर्ष में एक बड़ा हीरा बनता है
तराशने के लिए ये सारे हीरे अमेरिका में भेजे जाते हैं!

कहते हैं कि रूस में एक बड़ी जेल है
उस जेल के सींखचे नहीं हैं,
'हमारे जेल को सींखचे लगाइए!'
उन बंदियों ने सरकार के पास यह दरख्वास्त भी की है

कहते हैं कि ये सारी दंतहीन दंतकथाएँ हैं।

मराठी से अनुवाद : चंदकांत बांदिवडेकर

[संवाद एकाक्ष, मेरठ द्वारा शीघ्र एकाक्ष, कवि से काव्य संवाद
यह जनता अमर है से]

एक

वो मेरा हो जाए तो
इक ऐसा दिन आए तो

उसका जी बहलाने में
मेरा जी भर आए तो

उससे नफ़रत है लेकिन
वो मेरा कहलाए तो

घर का मालिक अपने घर
मेहमां होकर आए तो

लमहे भर का कर्ज कोई
जीवन भर लौटाए तो !

तीन

बच्चे जब होते हैं बच्चे
खुद में रब होते हैं बच्चे

सिर्फ अदब होते हैं बच्चे
इक मकतब होते हैं बच्चे

एक सबब होते हैं बच्चे
गौरतलब होते हैं बच्चे

हमको ही लगते हैं वरना
बच्चे कब होते हैं बच्चे

तब घर में क्या रह जाता है
जब गायब होते हैं बच्चे !

पांच

और सुनाओ कैसे हो तुम
अब तक पहले जैसे हो तुम

अच्छा अब ये तो बतलाओ
कैसे अपने जैसे हो तुम

यार, सुनो घबराते क्यूं हो
क्या कुछ ऐसे-वैसे हो तुम

क्या अब अपने साथ नहीं हो
तो फिर जैसे-तैसे हो तुम

ऐश परस्ती ! तुमसे ! तौबा !!
मजदूरी के पैसे हो तुम !

सात

तू तो एक बहाना था
हमको धोखा खाना था

मौसम रोज सुहाना था
उनका आना-जाना था

आईना दिखलाना था
उसको यूं समझाना था

आज ज़माना क्या जाने
हमसे एक ज़माना था

कबिरा वाली चादर का
मैं ही ताना-बाना था !

दो

सुनने और सुनाने को
रख मेरे अफ़साने को

मुझ पर कई उधार चढ़े
एक उधार चुकाने को

पहले अपना साथ निभा
सबका साथ निभाने को

उस दाना की किस्मत आह
तरसा दाने-दाने को

आखिर मेरा रंग लिया
उसने रंग जमाने को !

चार

मुझको लेकर सोचेंगे
पर गूंगे क्या बोलेंगे

कागज़ कोरा छोड़ेंगे
वो जब मुझको लिखेंगे

मैं अब उनकी आदत हूँ
वो मुझको क्या छोड़ेंगे

जिनसे मेरा झगड़ा है
मेरे अपने निकलेंगे

जितना सुलझाओगे तुम
रिश्ते उतना उलझेंगे !

छह

आज बगावत सच कहना
मेरी फ़ितरत सच कहना

कैसे बोले झूठ भला
जिसकी आदत सच कहना

आप बचे हैं कहने को
आप तो हजरत सच कहना

गर उसको अल्फ़ाज़ मिलें
उसकी हसरत सच कहना

चुप रहना मर जाना है
और क़यामत सच कहना !

एक

मेरी अना को झुकाने लगा है हर कोई
मैं झुक गया तो उठा पाएगा न सर कोई

अभी तो पेड़ पे पत्तों से घर बना लीजे
खिजां जब आएगी तब दूँद लेंगे घर कोई

हवाएं जब से मेरे दिल को छू के गुजरी हैं
हमारा जिक्र भी करने लगा है हर कोई!

इक ईकलाब उन्हें ताजो-तख्त दे देगा
हंसा दे रोते हुआं को शहर में गर कोई!

कहां झुकाऊं ये सिर बेखुदी में याद नहीं
मैं कब का भूल चुका हूँ बताओ दर कोई!

दो

एक मुद्दत से शबे-हिज्र नहीं सोई है
मेरे हालात पे शबनम भी बहुत रोई है

हर तरफ़ रेत के जरीं पे हैं पानी के निशां
इस बियाबां में कोई रूह बहुत रोई है

एक परछाई बड़ी देर से घूरे है मुझे
ऐ ग़मे-इश्क जरा देख, उधर कोई है

जिंदगी एक मकां दूँद रही थी कब से
थक के वो मेरी पनाहों में अभी सोई है

उसने अंगूर को होटों में दबाया जब से
तब से गुमसुम वो ख्यालात में ही खोई है!

तीन

गुनगुनाकर मेरे अशाआर को मानी दे दे
बन के किरदार मुझे कोई कहानी दे दे

मेरी आंखों में कोई अब्र का टुकड़ा भी नहीं
तू तो सावन है, मेरी आंख को पानी दे दे

अब तो पत्ते भी मेरा साथ नहीं देते हैं,
फिर से यारब मुझे इक बार जवानी दे दे

हैं जमीं बर्फ़ मेरे हाथ के दरियाओं में
हो सके तो उन्हें सांसों की रवानी दे दे !

शर्तिया मैं तेरे ख्वाबों से चला जाऊंगा
मेरे होटों को कोई अपनी निशानी दे दे!

चार

वक़्त के अंधे ताजमहल में कैसे शर्त निभाएंगे
इश्क का दरिया कितना उबले, पार न हम कर पाएंगे

कैसा वस्ल, कहां की ख्वाहिश, सब बातें अफसानों की
महंगाई का कतबा थामे इक दिन हम मर जाएंगे

बच्चे हैं, मत रोक लगाओ, चांद पे इनको जाने दो
मेरी उम्र पे आते ही ये धरती पर लौट आएंगे

बूढ़ा बरगद जब से बिछड़ा, धूप बहुत गरमाती है
उसके साथ गुजारे लम्हे, बरसों तक याद आएंगे

बेहतर है कुछ खा लें पी लें, और भुला दें अपने ग़म
वैसे भी घर जाते ही हम, बिस्तर पर सो जाएंगे!

एक

जाने अपने साए से क्यों आज मुझे डर लगता है
जला हुआ इस शहर का हर घर अपना ही घर लगता है

कुछ इतना चेहरा टूटा है, घाव कुछ इतने खाए हैं
फूल भी उसके हाथों का अब मुझको पत्थर लगता है

जब से उस नन्हे बच्चे की मां-बहनों का कत्ल हुआ
मौसम-गुल का हर एक मंजर खूनी मंजर लगता है

वैसे तो वो मेरा भी महबूबे दुलारा है लेकिन
उसकी हर इक बात से मेरे दिल में खंजर लगता है

डूबी, उभरी, उभरी, डूबी हर लम्हा, हर पल, हर रोज
'आशा' उसकी आँखों में इक गहरा समंदर लगता है !

दो

गर हौसला होता तो किनारे भी बहुत थे
तूफ़ान में तिनकों के सहारे भी बहुत थे

ये बात अलग है कि तवज्जो न दी हमने
दिल खींचने वाले तो नजारे भी बहुत थे!

कहने को तो हम जश्न-बहारां में थे मसरूफ़
महफ़िल में मगर दर्द के भारे भी बहुत थे !

हम साथ-साथ थे तो रस्ता भी था मंज़िल
उस वक्त तो हम जान से प्यारे भी बहुत थे

जीती हुई बाजी पे न इतराओ कि अक्सर
तुम पहले इसी खेल में हारे भी बहुत थे!

तीन

क्या कहूँ कैसा गुम का मंजर था
सामने यास का समंदर था

लहूँ रिसते हुए किसने देखा
जख्म तो मेरे दिल के अंदर था

फूँक डालीं ये बस्तियां किसने
वो अगर अमन का पैगंबर था

आज फिरता है वो कशकोल लिए
उसके सर पे भी नीला अंबर था

बह गए सैलाबे-आब में 'आशा'
शहर वो बेपनाह सुंदर था!

चार

कैसे होगा हमारा बसर दोस्तो
अजनबी हैं बहुत ये नगर दोस्तो

जिनके हाथों में होगा हुनर दोस्तो
वो बनाएंगे पानी पे घर दोस्तो

फिर कफ़स की बिखरने लगीं तीलियां
फिर निकलने लगे बालो पर दोस्तो

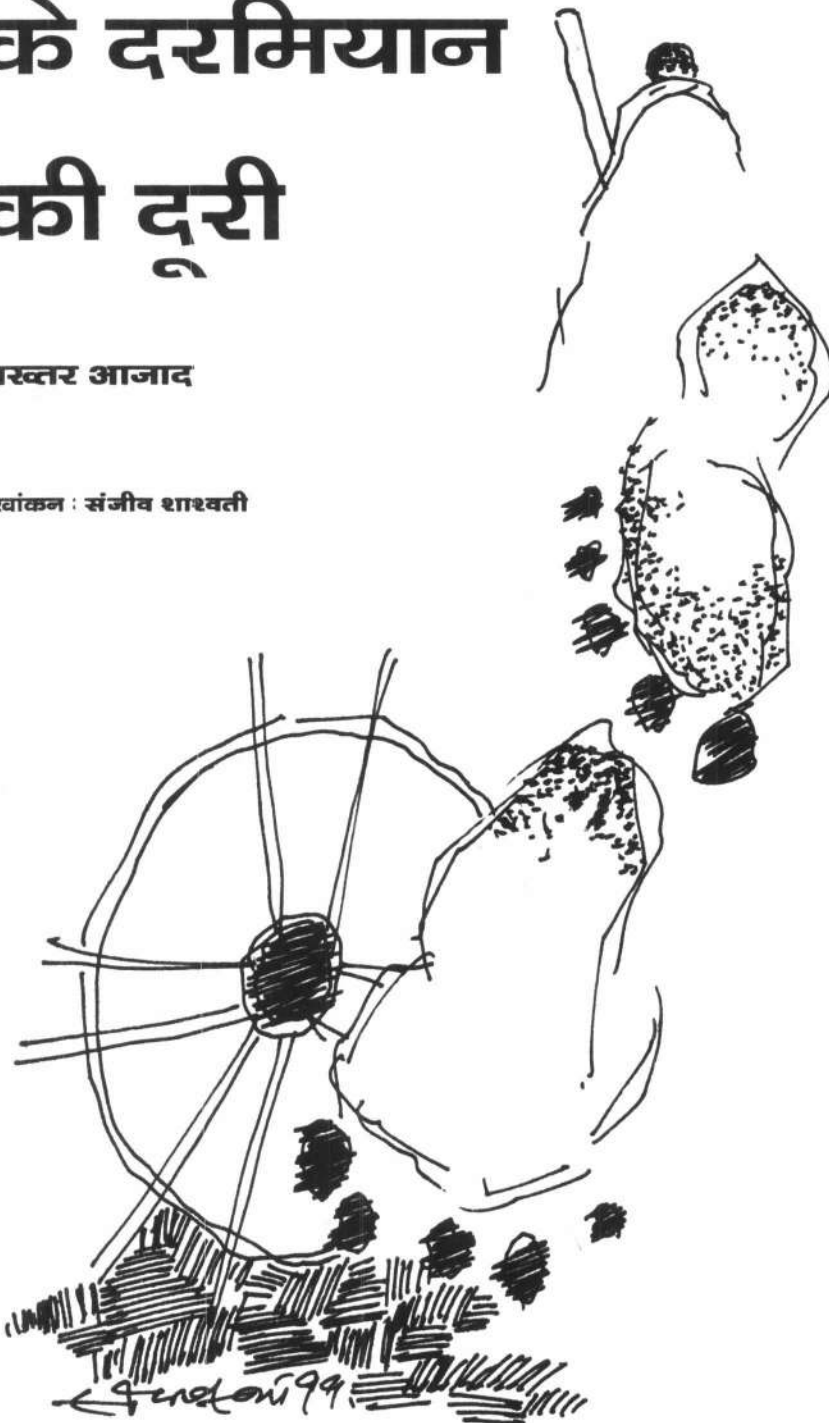
सामने हैं ये खतरे की तख्ती लगी
इसके आगे न करना सफ़र दोस्तो

वो न आया न आना था उसको मगर
हम रहे उग्र भर मुंतज़िर दोस्तो!

पांव से जूते के दरमियान की दूरी

अस्तर आजाद

रेखांकन : संजीव शाश्वती



आज फिर मेरा बेटा हमेशा की तरह मेरे पांव छूकर घर से निकला है। पांव छूने का यह सिलसिला वर्षों से इसी तरह जारी है। सुबह-सवेरे सबसे पहले वह नहा-धोकर तैयार होता है। फटे-पुराने कपड़े पहनते-पहनते वह अपनी बूढ़ी मां के हाथों से गर्मागर्म चाय लेता है। तलवे घिसे हुए जूते को बरशा से रगड़-रगड़कर साफ करता है। और बगल में फाड़लें दबाए मरी चाल चलता हुआ वह मेरे पास से गुजर जाना चाहता है- लेकिन एक कोने में टूटी हुई चारपाई पर इस बूढ़े बाप को खांसते हुए देखकर वह रुक जाता है। नजरें झुकाए मेरे पास आता है। पांव छूता है। मरी हुई आवाज में हर रोज यही कहता है।

“मैं जा रहा हूँ !”

और हर रोज एक मशीनी अंदाज में खांसते हुए उसके सिर पर हाथ रख देता हूँ- “भगवान ने चाहा तो तुझे ये नौकरी...”

और हर रोज मैं सिर्फ इतना ही कह पाता हूँ। उस वक्त मैं उम्मीदी और नाउम्मीदी के झूले में झूलता रहता हूँ कि नहीं मालूम आज क्या होने वाला है? वैसे हर रोज मुझे यही उम्मीद रहती थी कि आज मेरा बेटा अपनी जिंदगी के बैंक से टेलेंट का चेक कैश कराकर ही घर लौटेगा- लेकिन इधर कई दिनों से मैं देख रहा था कि उसके कदम थकने लगे थे। घर से निकलते वक्त उसके डगमगाते, लड़खड़ाते कदम रुक-रुककर मेरे दिल पर हथौड़े की तरह बरसने लगते हैं। मैं दर्द से तिलमिला उठता हूँ। चाहता हूँ कि उसे लौट जाने के लिए कहूँ। लेकिन कह नहीं पाता। कैसे कहता मैं उसे...? उसकी पैदाइश के दिन ही मैंने यह फैसला किया था कि इस नन्ही-सी जान को अच्छी शिक्षा दिलवाकर नवयुग का ऐसा नागरिक बनाऊंगा, जिस पर सारी दुनिया गर्व करेगी- यही वे ख्वाब थे मेरे। अपने हिस्से की एक-एक रोटी काटकर जब उसे मैंने एम.एस-सी. तक पहुँचाया तब मुझे उससे इतनी उम्मीद बंध गई थी कि अब महीने-दो-महीने के अंदर ही नौकरी स्वयं अपाईटमेंट के चक्के लगाकर उसके पास चली आएगी। लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। इसलिए मैं अंदर ही अंदर टूटने-बिखरने लगा था। रिटायरमेंट के सारे पैसे हाथ से निकलते ही आने वाला कल एक नए सवाल के साथ मेरे बुढ़ापे के दरवाजे पर दस्तक देने लगा कि- बढ़ती हुई महंगाई के साथ अगर बेटे की बेरोजगारी की समस्या का हल नहीं हुआ तो

भविष्य के दर्पण में अपने खुरदरे और बेरौनक चेहरे को पहचान भी नहीं पाओगे।

हर पीढ़ी अपने वाली पीढ़ी के बारे में सोचती है कि अगर उसके पास साइकिल है तो उसके बेटे के पास मोटर-साइकिल हो जाए। और पोते की जिंदगी का एक-एक पल कार की तेज रफ्तार छांव में गुजरे और...और मैंने भी अपनी अगली पीढ़ी के बारे में... अपने बेटे के बारे में कुछ ऐसा ही ख्वाब देखा था कि उसे मैं कभी भी अपनी तरह भारी-भरकम लोहे लगे हुए जूते और ग्रीस-मोबिल से सराबोर पसीने से तर-ब-तर फैक्ट्री के बदबूदार कपड़े पहनने नहीं दूंगा। वह तो पढ़-लिखकर अधिकारी बनेगा, बड़ा बाबू कहलाएगा, जिसकी सफेद शर्ट बेदाग और हमेशा चांदनी में नहाई हुई होगी, जिसके जूते हल्के-फुल्के आईने की मानिंद चमकते हुए जमाने की गर्द से बेनयाज होंगे।

मेरे बाबा किसान थे। हर रोज तपती हुई दोपहर में अपने जिस्मों के ग्लास में बूंद-बूंद पसीना जमा करते। सूरज के होठों की प्यास बुझाते और धरती के सीने पर कुदाल से वार करके अपने हिस्से का अनाज हासिल करते- दोपहर का खाना लेकर जब मैं खेत में पहुंचता तो बाबा मेरे सिर पर गमछा डालकर मुझे खींचते हुए बांस और फूस से बने हुए मचान की ओर ले जाते। अपने साथ मुझे भी सत्तू, आम और बेल का शरबत पिलाते- “पी ले बेटा! बाहर लू चल रही है। पेट ठंडा रहेगा तो लू से बचेगा”

बाबा की इन बातों पर मेरे इस छोटे से मस्तिष्क में बार-बार यह सवाल उभरता कि दो कदम चलकर घर से खेत तक आने-जाने में जब मुझे लू लग सकती है तो बाबा को? मुझसे रहा नहीं जाता और मैं पूछ बैठता- “इस गर्मी में तुझे लू नहीं लगती है बाबा...?”

तब वह हौले से मुस्कुरा देते।

“पेट के अंदर भी आग है और बाहर भी। बाहर की आग से अगर बचेंगे तो अंदर की आग जला देगी और अंदर की आग से अगर बचना चाहें तो बाहर की आग जलाएंगी। जलना तो हर कीमत पर गरीबों को ही पड़ता है- लेकिन मैं तुम्हें इस आग में कभी जलने नहीं दूंगा। किसी बाबू के हाथ-पैर जोड़कर फैक्ट्री में तुझे काम पे लगवाऊंगा। वहां बड़े-बड़े टीनशेड की छांव में सारा काम होता है। गर्मी से बचने के लिए बड़े-बड़े पंखे भी लगे होते हैं। आठ घंटा ड्यूटी और महीना पूरा होते ही पगार।

न धूप में पसीना जलने का खदशा और न ही जानवरों से खेत चरने का कोई डर।

जब पहली बार मैं बाबा से इस तरह की बातें सुनीं तो खुशी से इस तरह झूम उठा जैसे काली-काली घटाओं के दरम्यान मोर! फिर मैं आकाश को छूने के लिए बेताब नजर आने लगा। इसके साथ-ही-साथ एक ख्वाब मेरी कमउम्र आंखों में भी पलता रहा- हर महीने ढेर-सा पगार मिलेगा! उसे बड़े से बक्स में जमा करूंगा! गांव के सारे खेत खरीद लूंगा! बाबा रातों-रात एक गरीब किसान से जमींदार बन जाएंगे। अपना पक्के का घर होगा। नौकर चाकर होंगे और...!

वक्त की धरती पर चलते-चलते मैं जवान होने लगा। रात को सोते-जागते मेरे अंदर सायरन की आवाजें गूंजने लगीं। जैसे मुझे कोई आवाज दे रहा है। फैक्ट्री की मशीनें चिंघाड़-चिंघाड़कर मुझे बुला रही हैं। चिमनियों के धुंए सिगनल देकर मुझे अपनी तरफ खींच रहे हैं- और इधर मेरे बाबा भी अब मुझे जल्द से जल्द शहर भेज देना चाहते थे, अपने दोस्त के पास, जो किसी फैक्ट्री में काम करते थे। बहुत पहले जब फैक्ट्री वाले उनके दोस्त अपने खेत देखने के लिए गांव आए तो बाबा मुझे अपने साथ लेकर उनके पास गए थे। मुझे उनके पांव छूने के लिए कहा था और बताया था- “यह मेरा बचपन का दोस्त है। शहर में रहता है और फैक्ट्री में काम करता है। बड़ा होते ही तुझे मैं इनके पास भेजूंगा। साहब-वाहब से बातचीत करके ये तुम्हें फैक्ट्री में काम दिलावा देंगे।”

“अभी छोटा है,” उन्होंने मुझे ऊपर से नीचे तक देखा फिर बाबा से बोले- “बड़ा होने दो। फिर मेरे पास भेज देना। कहीं-न-कहीं काम पे लगवा देंगे- तुम चिंता न करो!”

बाबा के लिए मैं हर रोज खेत में सत्तू, प्याज, मिर्च और अचार लेकर जाया करता और हर रोज उनको खेतों से लड़ते-झगड़ते मिट्टी में लथपथ पाकर वहां रुकना और उनका हाथ बंटाना चाहता, लेकिन बाबा मुझे खेत में कभी रुकने नहीं देते। हर रोज मेरे हाथ से कुदाल छीन लेते और फैक्ट्री के मुहाने ख्वाब दिखाकर घर भेज देते।

वर्षों बाद बाबा के वही फैक्ट्री वाले दोस्त अपने खेतों की बुवाई-कटाई के लिए गांव आए- वापसी में बाबा ने मेरा हाथ उनके हाथ में पकड़ा दिया। कंधे पर झूलते हुए गमछे से अपनी आंखों के किनारे साफ करते हुए बाबा बोले-

“आज इतनी कड़ी मेहनत के बाद भी किसानों की कोई इज्जत नहीं करता। खाने के लिए कभी-कभी पैसे जुटाना भी मुश्किल हो जाता है। लेकिन फैक्ट्री वालों की आज भी पूजा होती है- शहर की भूल-भुलैया में अपने इस बाबा को याद रखना।”

तब से लेकर मैं दो साल पहले तक फैक्ट्री में काम करता रहा था। पैसे भी खूब कमाए थे। लेकिन जब जमीन खरीदने के दिन आए तो एक दिन तपती दोपहर में खुदाई का काम करते-करते मेरे बाबा लू की लपेट में आ गए। खेत में ही चकराकर गिरे और मिट्टी से हमेशा-हमेशा के लिए चिपक गए। कुछ ही दिनों के बाद मैं मां को अपने साथ शहर ले आया। यहां भी उनकी तबियत में किसी प्रकार का सुधार नहीं हो पाया। बाबा के गम की इस आग में अपने जिस्म को बर्फ की मानिंद पिघलाती रहीं। लेकिन इस बीमारी में भी उन्हें सिर्फ एक ही धुन थी। मेरे सेहरे की।

बाबा की मौत के साल लगते ही मां ने गांव की एक भोली-भाली लड़की को मेरी जिंदगी की खूट से हमेशा-हमेशा के लिए बांध दिया। साल भर के अंदर ही पोते को खिलाने-पिलाने और नहलाने-धुलाने से लेकर पेशाब-पाखाना साफ करने का सारा सुख मां को नसीब हुआ और वह बाबा के गम को आहिस्ता-आहिस्ता पोते की खुशी में भूलने लगी। लेकिन अचानक एक दिन पोते को नहलाने के दौरान दिल का दौरा पड़ा और...और अपनी होने वाली पोती को बगैर खिलाए-पिलाए ही हमसे नाराज होकर बाबा के पास चली गई।

इस बुढ़ापे में अब मेरी बीबी भी अपनी जिंदगी की आखिरी डोर मेरी तरफ से खींच लेना चाहती है। उसकी बीमारी ऐसी है कि ठीक ही नहीं होती। काफी इलाज करवाया। डाक्टर का कहना है कि पित्त में पत्थर है। इस उम्र में आपरेशन खतरे से खाली नहीं- आपरेशन के नाम पर ही वह ना-ना कहना शुरू कर देती है। बहुत डरती है वह। कहती है कि मर जाऊंगी। आज सोचता हूं कि अगर डाक्टर के कहने पर वह आपरेशन के लिए तैयार हो जाती तो...घर का चूल्हा भी वक्त के आंसुओं से बहुत पहले ही बुझ गया होता। बेटी भी हाथ-पांव निकाले बाहर जाने के लिए तैयार बैठी थी। लेकिन मेरी मुफलिसी की सड़क से होकर गुजरने वाली कोई भी गाड़ी मेरे हाथ देने के बाद भी नहीं रुकती। शावर रफ्ता-रफ्ता गाड़ी वालों को यह मानूम हो गया था कि एक रिटायर्ड बाप उसकी मर्जी के मुताबिक गाड़ी का

किराया नहीं दे पाएगा।

इधर कुछ दिनों से मेरी बेटी काफी उदास रहने लगी थी। मेरा बेटा उसके मुरझाए हुए गुलाब चेहरे की शगुनगी लौटाने के लिए सुबह से शाम तक और कभी रात ढले खामोश कमरों के साथ घर लौटा करता था- रोजाना घर से निकलते वक़्त मेरी बेटी बड़े अरमानों से लंच भरा पैकेट उसके हाथों में देती। बरामदे के पाए से टेक लगाए उसे जाते हुए देर तक देखती रहती। प्रार्थना करती। शाम ढले वह फिर उसी पाए के पास आकर खड़ी हो जाती। चमचमाते हुए खुशियों भरे चेहरे के लौटने का इंतज़ार करती। लेकिन दूर से ही जब भाई की चाल में डगमगाहट के साथ नाउम्मीदी की झलक दिखाई पड़ने लगती, तब वह चुप हो जाती और लोटे में पानी भरकर आंगन में चली जाती। मुंह धोती और किचन की तरफ बढ़ जाती- यह सब कुछ देखते-देखते मेरे साथ पत्नी की आंखें भी सूज चुकी थीं। उसकी सूजी हुई आंखें ऐसे वक़्त में जब भी मेरी तरफ उठती तो ऐसा लगता जैसे कह रही हों कि 'तुमने मेरे बेटे को गुमराह किया है- तुम गुनाहगार हो।'

मैं वाकई अब अपने आप को अपने बेटे का गुनाहगार समझने लगा था। आज मैं उसके लौटने का इंतज़ार कर रहा था। खुद को समझाना और उसे समझाना चाहता था कि रात यही कोई नौ बजे के आस-पास एक बार फिर वह नाउम्मीद घर लौटा- चेहरे पर हवाईयां उड़ रही थीं। जिस्म का एक-एक अंग टूटा हुआ था। चाल में लड़खड़ाहट थी। आंखों के सामने जैसे अंधेरा छाया हुआ था। बाल बिखरे और धूल में अटे हुए थे। वह हर रोज चुपचाप कमरे में दाखिल होता था। किसी से कुछ नहीं कहता था। लेकिन चारपाई शायद दरवाजे के पास होने की वजह से वह मेरी तरफ एक नजर देखता जरूर था।

आज भी उसकी नज़रें मेरी तरफ उठी हुई थीं। लेकिन इस वक़्त अपने बेटे से नज़रें मिलाने की ताकत मुझमें कहां थी? उसका टूटा-बिखरता अस्तित्व मेरी झुकी हुई पलकों से अक्सर सवाल करता- 'बापू! अगर तूने वक़्त पर मेरा रजिस्ट्रेशन कंपनी में करवाया होता तो मैं दर-ब-दर भटकने की बजाय आज तेरी जगह...

लेकिन मुझे तो कंपनी और कंपनी की बड़ी-बड़ी आग उगलती हुई भट्टियों और धुआं फेंकती हुई चिमनियाँ से चिढ़ थी। मैंने कंपनी के आइने में नई और पुरानी तस्वीरों को उलट-पलटकर बहुत

करीब से देखा था। सेहतमंद चेहरों पर वक़्त की गर्द जमते ही आंखें धंस जाती थीं। गाल पिचक जाते थे- और भट्टियां साठ साला जिंदगी का सारा रस निचोड़कर ईसानों की हड्डी-पसली पर रिजेक्ट का मोहर मारकर बेकार चीज की तरह मशीनों के जरिए बाहर फेंक देती थीं।

मैं बहुत खुश था। लेकिन यह क्या हुआ...? चिमनियाँ और भट्टियों से बचाने के बाद भी दोसाला नौकरी की तलाश ने दफ़्तर-दफ़्तर मेरे खूने जिगर को इतना भटकाया था कि आज उसकी हालत भट्टियों और चिमनियाँ के आस-पास जिंदगी गुजारने वाले लोगों से भी बदतर हो गई थी- जवानी में बुढ़ापे का रोल निभाते देखकर मुझे अपने बेटे पर तरस आ जाता है। लेकिन इसका जिम्मेदार...इसलिए हमेशा मेरा सिर उसके सामने झुक जाया करता।

आज भी मेरा सिर गुनाह के बोझ से झुका हुआ था। मां से नज़रें बचाकर वह आगे बढ़ गया। आंगन में उसने देखा कि बहन चेहरा धो रही है। वह फाइल शेल्फ पर रखते हुए सीधे कुए के पास चला गया। मुंह-हाथ धोए और हमेशा की तरह आंगन में रखी हुई चारपाई पर आँधे मुंह लेट गया। बहन ने भाई के लिए पहले चाय बनाई। फिर तीन-चार रोटियां सेंककर ही वह उठ गई।

“भैया! खाना खा लो...!”

वक़्त की ठोकर खाए हुए भाई ने जब अपनी आंखें ऊपर उठाई तो छोटी बहन की आंखों की वीरानी में उदासी के ढेर सारे पारिंदे को फड़फड़ाते देखकर वह ठिठक गया। उसकी नज़रें चूल्हे की तरफ उठ गईं।

“तुम्हारा चूल्हा तो बुझ रहा है। लकड़ी या कोयला क्यों नहीं डालती...?”

“ईधन नहीं है- बापू को बोली थी। लेकिन!” वह चेहरा दूसरी तरफ घुमाते हुए सिसक पड़ी।

“पगली! चलो तुम रोटि बनाओ- ईधन का इंतज़ाम मैं करता हूँ!” उसने उठकर मजबूती के साथ अपनी बहन का हाथ थाम लिया। कुछ देर यों ही वह आकाश की तरफ खाली-खाली निगाहों से देखता रहा। फिर तेजी से कमरे की तरफ बढ़ गया।

मैं अंदर कमरे में चारपाई पर लेटा-लेटा खिड़की से किचन के सारे दृश्य एक-एक करके देख रहा था। मेरी पत्नी भी मेरा साथ देने के लिए मेरी चारपाई पर आकर मेरे पैताने बैठ गई थी। उसकी आंखें भी आंसुओं से तर थीं कि तभी दूसरे कमरे से

पुराने संदूक के खुलने की आवाज़ आई। फिर थोड़ी देर के बाद खट-खट की तेज़ आवाज़ हुई। वही जानी-पहचानी-सी। मेरे रोंगटे खड़े हो गए। जिस्म कंपकंपाने लगा। तभी मैंने देखा कि मेरा बेटा एक हाथ में डिग्री वाली फाइलें लिए पांव में मेरे ही फटे-पुराने लोहे के जूते पहने खट-खट करता हुआ कमरे से निकला और किचन के पास आकर ठहर गया- बहन ने एक भाई के इरादे को शायद भांप लिया था। इसलिए उसने भाई का हाथ पकड़ना चाहा, रोकना चाहा। लेकिन भाई ने बहन के हाथों को झटकते हुए अपनी डिग्री की सारी फाइलें एक-एक करके चूल्हे में डाल दीं।

ईधन मिलते ही एक बार फिर चूल्हे का मुंह रौशन हो गया।

“मैं मरा नहीं, जिंदा हूँ! खाने-पीने से लेकर तुम्हारी जरूरत की सारी चीज़ें...” मेरे बेटे ने भारी-भरकम आहनी जूते की तरफ देखते हुए कहा- “अब मेरी बहना के लिए किराया कोई समस्या नहीं रही- हमारी मर्जी से गाड़ियां यहां रुका करेंगी।”

बेटे के पांव में अपने ही भारी-भरकम बदबूदार आहनी जूते को देखकर मेरी बूढ़ी आंखों में गुस्सा समाता ही चला गया। पत्नी ने हाथ पकड़कर मुझे बिठाने की कोशिश की। लेकिन मैंने उसके कमजोर हाथों को अपने बूढ़े हाथों से इस तरह से झटक दिया कि वह बेचारी दर्द से बिलबिला उठी।

तड़क!

“हरामखोर! क्या मैंने तुम्हें इसी दिन के लिए पढ़ाया था कि तुम पढ़-लिखकर कुली-कबाड़ी की नौकरी करो और इस भारी बदबूदार जूते को पहनकर ...फौरन उतारो इस जूते को! नहीं तो...!” मैं गुस्से से धर-धर कांप रहा था।

लेकिन जब वह एक आज्ञाकारी बेटे की तरह मेरे हुक्म को अंततः मानकर जूते मेरी तरफ बढ़ाने लगा तब मेरी बूढ़ी आंखों के कैमरे ने बीमार बीवी और जवान बेटी के मुरझाए चेहरे की तस्वीर एक के बाद एक खींच लीं। मैंने हड़बड़ाकर जूते वापस उसके पांव के पास रख दिए।

“मेरे और तेरे जूते का नंबर, लगता है, एक ही है बेटे।”- मेरे सीने से अलग होते ही उसने पहले अपने पांव को देखा और फिर...

खट-खट की वही आवाज़- और बाबा का सदियों पुराना मुस्कुराता चेहरा एक बार फिर मेरी आंखों के सामने घूम गया। □

परंपरा और समकालीनता के बीच गज़ल

अमीर खुसरो से लेकर समकालीन परिवेश तक गज़ल ने ढेर सारे सवाल का उत्तर दिया है। विचार एवं तर्क के साथ सामंजस्य करते हुए व्यवहारवाद से तर्कवाद तक का लंबा रास्ता तय किया है इसने। विभिन्न कालखंडों में इसके बदले स्वभाव का समग्र मूल्यांकन असंभव है। ऐसे कुछ महत्वपूर्ण बिंदुओं को छूकर इसकी समग्रता को परिभाषित किया जा सकता है। जैसा कि आज तक होता आया है, गज़ल को सिर्फ दुल्हन कहने वालों ने गज़ल के साथ बहुत अन्याय किया है। गज़ल की परंपरा और समकालीनता पर विचार कर रहे हैं अनिरुद्ध सिन्हा।

अमीर खुसरो से लेकर समकालीन परिवेश तक गज़ल ने ढेर सारे सवाल का उत्तर दिया है। विचार एवं तर्क के साथ सामंजस्य करते हुए व्यवहारवाद से तर्कवाद तक का लंबा रास्ता तय किया है इसने। विभिन्न कालखंडों में इसके बदले स्वभाव का समग्र मूल्यांकन असंभव है। ऐसे कुछ महत्वपूर्ण बिंदुओं को छूकर इसकी समग्रता को परिभाषित किया जा सकता है। जैसा कि आज तक होता आया है। गज़ल को सिर्फ दुल्हन कहने वालों ने गज़ल के साथ कितना बड़ा अन्याय किया है इसका अनुमान ग़ालिब के इस शेर से लगाया जा सकता है :

इस नज़ाकत का बुरा हो वो भले हैं तो क्या
हाथ आए तो उन्हें हाथ लगाए न बने

वहीं दूसरी ओर अदम गोंडवी कहते हैं :

माफ़ करिए सच कहूँ तो आज हिंदुस्तान में
कोख ही ज़रखोज है अहसास बंजर हो गया

ग़ालिब असामान्य रूप से बहुमुखी व्यक्तित्व के धनी थे। उनका व्यक्तित्व सृजनात्मक दर्शन आत्मिक संस्कृति की जड़ों तक समाया हुआ था। सहज या हल्के ढंग से ग़ालिब का मूल्यांकन असंभव है। जबकि अदम गोंडवी सीधे-सीधे कहने वाले गज़लकार हैं। रचनात्मक प्रगति के प्रति निष्ठावान होते हुए इन्होंने समकालीन समाजिक विसंगतियों पर करारा प्रहार किया है जिसकी आवाज दूर तक जाती है।

हिंदी और गज़ल ? इस बात पर कुछ लोगों को एतराज होगा। होना भी चाहिए क्योंकि यही लोग हैं जिन्होंने कविता को छंदरूपी आवरण से निकालकर इसकी आत्मा को लहलुहा किया है। अन्य भाषाओं की तुलना में हिंदी कविता से पाठकों का पलायन इस बात का संकेत है। यह सच है कि स्थापना काल में गज़ल को गज़लकारों से ही ज्यादा प्रताड़ित होना पड़ा। इसके मूल संस्कार के साथ छेड़छाड़ की गई। किसी ने इसे हिंदी गज़ल कहा, किसी ने तेबरी और किसी ने गीतिका। परिणाम के नाम पर शून्य। हां, भले छंदों के विरुद्ध चलाए गए अभियान को इससे थोड़ा बल मिला।

साहित्य में धीरे-धीरे सीमित प्रतिबद्धता समाप्त होने लगी है। यह सृजन के लिए शुभ संकेत है। प्रतिबद्धता गुणात्मकता का कारक नहीं बन सकती। जीवन की बात करने के बावजूद जीवन के कई पक्ष अधूरे रह जाते हैं। उदाहरणार्थ रीतिकाल, भक्तिवाद, छायावाद आदि-आदि।

कभी-कभी रचनाकार मुख्य धारा में आने के लिए भी प्रतिबद्ध लेखन का सहारा लेते हैं- यह जानते हुए कि उनकी समग्रता प्रतिबद्धता की आग में झुलस जाएगी। साहित्य में आजकल तकियाकलाम की तरह है जो किसी-न-किसी रूप में प्रतिबद्ध लेखन की ओर इंगित है। किसी वाद के नाम पर हाफ़ी भरता है। प्रतिबद्धता से मेरा आशय है- सीमित विचारों से लैस होकर लेखन करना।

गज़ल की कलात्मक स्वाभाविक अभिव्यक्ति पाठकों के साथ-साथ गज़लकारों को भी आंदोलित करती है। इसकी सकारात्मक उपलब्धियों की जितनी प्रशंसा की जाए, कम है। भारतेंदु जैसे सरीखे कवि को नाम बदलकर (रसा) गज़ल कहने के लिए विवश होना पड़ा। बुनियादी कसौटी पर वह भले ही पिछड़ गए हों मगर उनके गज़ल लेखन को खारिज नहीं किया जा सकता। कोई लेखन काफी सत्यभाषी रहने के बाद भी, अगर उसमें गुणात्मक विकास के लक्षण नहीं है तो उसे ज्यादा दूर तक खींचकर ले जाना मुश्किल होता है।

लेखन में लेखकीय प्रतिबद्धता की काफी गुंजाइश रहती है। 'रसा' गज़ल के प्रतिबद्ध गज़लकार नहीं हो सके, जाहिर, है उनकी लेखकीय प्रतिबद्धता कहीं-न-कहीं अवश्य भ्रमित हुई होगी। फैशन के साथ उनका नाम जोड़ना साहित्यिक अपमान होगा। फैशन का दूसरा नाम है रचनाकार की आत्मपरक मनमानी। कहीं-कहीं यह मनमानी सकारात्मक रूप भी अख्तियार कर लेती है।

गज़ल लेखन की शृंखला में लोग कबीर का भी नाम लेते हैं। मगर कबीर की साहित्यिक समग्रता को देखने के बाद यह कहीं से न्यायसंगत नहीं लगता कि उन्हें गज़लकार कहा जाए। तुक संयोजन और सैद्धांतिक शास्त्रीयता दोनों अलग-अलग हैं। इन्हीं दोनों अलगाव के बीच कबीर खड़े नजर आते हैं।

प्राचीन साहित्यिक धारणाओं की ओर दृष्टिपात करें तो लगता है गज़ल भी वादों से मुक्त नहीं रही है। निराशावाद, शृंगारवाद, रूपवाद आदि कई वाद आए और चले गए।

सत्तर के दशक तक गज़ल पर शृंगारवाद का प्रभाव रहा। उसके बाद यह पूरी तरह से यथार्थवाद की ओर मुड़ गई। पूर्व और उत्तरवर्ती सृजन के अंतर को इसने साफ-साफ विभाजित किया। सिद्धांत के चले हुए मुहावरे अभिव्यक्ति में नरम होने लगे। मानवीय संवेदना का विस्तृत पक्ष— जो करुणा के अधिक निकट है— विकसित और चिह्नित हुआ। विषय और विचार वही मगर पहले शब्दों और शीर्षकों में तकियाकलाम बनकर उद्घोषित, उच्चरित होते थे वे संपूर्ण सृजन संसार में समाहित होने लगे। सिद्धांत या सोच की जड़ में प्रवेश कर बाहर की तरफ प्रकाशित होना— यह गज़लकारों की उपलब्धि मानी गई। सिद्धांत या सोच का संपूर्ण सृजन में समाहित हो जाना और पाठकों को अनुप्रेरित करना सृजन की दुनिया में हमेशा कठिन कर्म रहा है।

लेकिन गज़ल को ऐसी विवशता को तोड़ने में सफलता मिली है। पाठकीय स्वीकृति इसका पुख्ता प्रमाण है। मोटे तौर पर सत्तर के दशक को गज़ल का नवजागरण काल भी मान सकते हैं। नवजागरण का सीधा-सीधा अर्थ होता है— 'नई चेतना' का उदय, जिसका मुख्य उद्देश्य होता है समाजवादी विचारधारा के माध्यम से समस्याओं का बेहतर समाधान।

सत्तर के दशक में गज़लकारों की जो पीढ़ी उभरकर सामने आई उसमें सबसे ज्यादा प्रखर दुष्यंत कुमार माने गए। गज़ल का हिंदी में प्रवेश का काल भी इसी को माना गया है। इसी दशक में कई समर्थ गीतकार गज़ल की ओर मुड़े जिनके नामों का क्रमवार उल्लेख करना मुश्किल है। कुछ ऐसे कवि/गज़लकार भी थे जो मुक्त छंद कविता में भी हाथ-पांव मार रहे थे और गज़ल में भी। उनकी दुखद परिणति का लेखा-जोखा काफी प्रयास के बावजूद उपलब्ध नहीं हो सका। वैसे भी उन्हें तार्किक परिणति पर लाना मनोवैज्ञानिक विकलांगता ही मानी जाएगी। नकारात्मक परिघटना को सिद्ध करने से कोई नियमसंगत परिणाम नहीं निकलता।

दुष्यंत कुमार ने अपनी गज़लों में वैचारिक क्रमबद्धता का बेहतर उदाहरण पेश किया है। उनकी लोकप्रियता इस धारणा को संपुष्ट करती है। उन्होंने अपने विचार एवं तर्क के माध्यम से भौतिक सामाजिक विसंगतियों पर जमकर प्रहार किया है। उनकी गज़लों ने पूरा कथा का अवतरण न कर उसकी दिशा बहुल सृजनात्मक रंग छाया का आभास देते हुए संवेद्य तनाव को बनाए रखा। विचार की जगह संवेदना को उन्होंने प्रश्रय दिया। उनका रचनात्मक तनाव पारदर्शी समाज की स्थापना पर केंद्रित रहा। प्रयोग के लिए प्रयोग नहीं करना— यह उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। उनकी सरल-सीधी ईमानदारी और सच्चाई सदैव पाठकों को अपनी ओर आकर्षित करती रही। उन्होंने जो भी कहा, साफ कहा :

पुराने पड़ गए डर फेंक दो तुम भी
ये कचरा आज बाहर फेंक दो तुम भी।

व्यक्ति के नैतिक कर्तव्यों के बारे में धारणाएं समय के साथ बदलती रहती हैं। पुरानी पड़ी मान्यताएं सदैव काम नहीं देतीं। मार्क्स ने भी कहा है— 'इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं कि समाजवादी विचारधारा अपनी प्रकृति से सामाजिक वर्गीय, सर्वहारा विचारधारा होने के बावजूद अपनी अंतर्वस्तु की दृष्टि से वर्गीय दायरों के भीतर ही नहीं बंधी रहती और महान् सार्वजनीन मूल्य उसमें ही निहित हैं।'

इस शेर में दुष्यंत कुमार की मार्क्सवादीय सोच साफ-साफ दिखलाई पड़ती है। उनकी यही विशेषता थी— वादों का प्रदर्शन किए बिना उन्हें स्थापित कर देना।

हमारे देश में स्थापित मानववादी विचारधारा की जड़ें इतनी मजबूत हैं

कि मूल्यों के सृजन में भी इसका प्रभाव साफ-साफ देखा जा सकता है। क्रांति की बात करते स्वतः संवेद्य धरातल पर आना जाना। इसकी पुष्टि दुष्यंत कुमार अपने इस शेर में करते हैं :

मत कहो आकाश में कुहरा घना है
यह किसी की व्यक्तिगत आलोचना है।

पिछले दो दशक में विश्व के मानचित्र पर अनेक परिवर्तन प्रकट हुए हैं। कुछ ऐसे भी परिवर्तन हैं जो वैश्विक समाजवादी व्यवस्था से बिल्कुल अलग-थलग हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि भारत इनसे मुक्त रहा है। समाजवाद का पूंजीवाद की ओर पलायन, दलितवाद के नाम पर जातिवाद का उदय, राजनीति का अपराधीकरण, उदारतावाद आदि ऐसे कई परिवर्तन देश की वर्तमान व्यवस्था को प्रभावित कर रहे हैं।

उपभोक्तावादी समाज और प्रयोगवादी आधुनिक सभ्यता के बीच की प्रतियोगी कशमकश समकालीन साहित्य का मुख्य स्वर है। ऐसी ही कुछ यथार्थवादी सीमाओं के बीच गज़ल का अपना एक विशिष्ट स्थान है। समकालीन गज़लों में इष्ट और विशिष्ट दोनों आमने-सामने होते हैं। इष्ट मानवीय आचरणों में प्रतिफलित होता है और विशिष्ट उस प्रतिफल का एक वायवी अंतर्लोक बनकर रह जाता है जो भरा-पूरा महसूस होता है मगर आकार में ढलता नहीं है यानी सतत संघर्षशील मानव सतत जीवनधर्मी बना रहता है और अपने स्वभाव के अनुरूप संघर्ष, दुख, परिताप में मुंरी आंखों से विशिष्ट की झलकियों में भी निगमन होता है। मगर यह विशिष्ट से टकराकर इष्ट के ठोस धरातल पर खड़ा हो जाता है :

पूछा जो आसमान ने क्या हाल-चाल है
मुश्किल में पड़ गई है जमीं दे जवाब क्या !

*** **

बहलाके अपने पास बुलाकर फरेब से
नदियों को लूटना तो समंदर का खेल है !

—राजेश रेड्डी

यथार्थ समाजवादी वर्गीय समस्याओं के स्थान पर किसी प्रतिबद्ध वाद का हस्तक्षेप समकालीन गज़लों में दिखाई नहीं पड़ता। वाद जब फैशन का रूप धारण कर लेता है तो उसकी स्वभाविक महत्ता स्वतः ही समाप्त हो जाती है जिसका सीधा-सीधा असर रचनाओं पर पड़ता है।

मिसाल के तौर पर चंद्रसेन विराट का यह शेर :

जिनने अपने कंधों पर अक्षय तूणीर जुटाया है
उनके सक्षम हाथों में ही तो गांडीव, पिनाक रहे !

अगर सच कहा जाए तो यह एक अर्गल प्रलाप है जिसमें वाद की दुर्गंध आती है। इस शेर में रचनात्मक दर्शन का अभाव है।

जर्मन दार्शनिक निकोलाई हार्टमन अपनी पुस्तक *सौंदर्यशास्त्र* में लिखते हैं कि दर्शन की आवश्यकता न कलाकार को है, न सौंदर्य का रसास्वादन करने वाले व्यक्ति को। उनके मतानुसार, दर्शन में मात्र ऐसे व्यक्ति की रुचि हो सकती है जिसका परिकल्पनात्मक चिंतन के प्रति बैद्धिक रुझान हो।

इस कसौटी पर अशोक अंजुम बिल्कुल खरे उतरते हैं। उनकी गज़लों में

पृष्ठ 34 पर जारी

हिंदी गजल के इतिहास पुरुष: दुष्यंत

साहित्यिक जीवन के अपने सफर में दुष्यंत ने आलोचना, उपन्यास व काव्य नाटक भी लिखे परंतु अपने जीवन में जितनी सफलता उन्हें गजलें लिखकर मिली उतनी संभवतः किसी अन्य साहित्यिक रूप में नहीं। अपने समय की विद्वताओं, व्यवस्था प्रसूत असंगतियों व जीवन की निराशाओं से दुष्यंत कभी भागे नहीं बल्कि लोगों को भी इनसे जूझने, संघर्ष करने का आह्वान किया। सूर्य का स्वागत से अपना सफर आरंभ करने वाले दुष्यंत ने साहित्यिक यात्रा का अपना अंतिम पड़ाव साये में धूप नामक अपने अंतिम गजल संग्रह से किया। गजल के क्षेत्र में लगभग क्रांति ला देने वाले रचनाकार दुष्यंत कुमार के रचना संसार का परिचय दे रहे हैं राजेश कुमार व्यास

कुलबुलाती चेतना के लिए सारी सृष्टि निर्जन
और कोई जगह ऐसी नहीं
सपने जहां रख दूं
दृष्टि के पथ में तिमिर हैं
और हृदय में छटपटाहट
जिंदगी आखिर उठाकर
कहां रख दूं, कहां फेंकूं !

सृजन और अपनी आंतरिक पीड़ा की इसी छटपटाहट को लिए ताउम्र भटकने वाला इंसान दुष्यंत। एक ऐसी शख्सियत जिसने सारी उम्र अपने समय की पीड़ा को न केवल समझा बल्कि बखूबी उसे अपनी गजलों में दर्ज किया। हिंदी गजल को व्यापक पाठक वर्ग तक पहुंचाने तथा उसे एक नई पहचान देकर समसामयिक इतिहास की एक प्रतिक्रिया विशेष का दस्तावेज बनाने में दुष्यंत का योगदान साहित्य जगत के लिए एक उपलब्धि है।

बेलौस मस्ती और खुलापन दुष्यंत की गजलों की प्रमुख विशेषता ही नहीं हैं बल्कि उनके जिंदगी का मिजाज भी था। मंजी हुई जुबान और कसे हुए छंद दुष्यंत की गजलों की सदैव विशेषता रहे हैं।.... दरअसल उनकी गजलें एक ऐसे आदमी की प्रामाणिक पीड़ा भरी आवाज थी जो अपने अस्तित्व से अधिक महत्व अपनी रचना को देता रहा।

एक खंडहर के हृदय-सी, एक जंगली फूल-सी
आदमी की पीर गूंगी ही सही, गाती तो है !

अपने इसी विश्वास के साथ दुष्यंत ने हर आम आदमी से अपना रागात्मक संबंध स्थापित किया। शब्दमाला के विराट का व्याडंबर को दुष्यंत ने कभी भी नहीं स्वीकारा, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण उनकी ये गजलें हैं जिनमें जीवन की अंदरूनी असलियत बड़े सहज व बेबाक रूप में दिखाई देती हैं। मुझ में रहते हैं करोड़ों लोग, चुप कैसे रहूं। कहने वाले दुष्यंत सचमुच चुप नहीं रहे थे, जो उन्होंने देखा, जो भोगा चाहे वह कटु ही हो, न व्यक्त करने वाला भी, उसे व्यक्त किया, व्यक्त करने से कभी चूके भी नहीं।

1 सितंबर, 1933 को उत्तर प्रदेश के बिजनौर जिले के राजपुर नवादा में जन्मे दुष्यंत का पूरा नाम था दुष्यंत कुमार त्यागी। दुष्यंत कुमार 'परदेशी' से अपनी साहित्यिक यात्रा को आरंभ करने वाले इस शख्स ने जीवन के यथार्थ का चित्रण अपनी गजलों में ताउम्र किया। यह बात अलग है कि यात्रा के बीच में ही वह हमसे दूर, बहुत दूर चले गए। सूर्य का स्वागत दुष्यंत का प्रथम काव्य संग्रह है जिसका प्रकाशन 1957 में हुआ था। अपने इस पहले ही संग्रह से उन्होंने अपनी एक विशिष्ट पहचान बना ली। इसके पश्चात् तो साहित्य की अनेक विधाओं में उनकी बहुत-सी पुस्तकें आईं।

1957 में सूर्य का स्वागत से अपना सफर आरंभ करने वाले दुष्यंत ने साहित्यिक यात्रा का अपना अंतिम पड़ाव साये में धूप नामक अपने अंतिम काव्य संग्रह से किया। यह संग्रह उनके निधन के ही वर्ष 1975 में प्रकाशित हुआ। साहित्यिक जीवन के अपने सफर में दुष्यंत ने आलोचना, उपन्यास व काव्य नाटक भी लिखे परंतु अपने जीवन में जितनी सफलता उन्हें गजलें लिखकर मिली उतनी संभवतः किसी अन्य साहित्यिक रूप में नहीं।

अपने समय की विद्वताओं, व्यवस्था प्रसूत असंगतियों व जीवन की निराशाओं से दुष्यंत कभी भागे नहीं बल्कि लोगों को भी इनसे जूझने, संघर्ष करने का आह्वान किया। एक बानगी देखिए:

ये जो शहतीर हैं, पलकों से उठा लो यारो
अब कोई ऐसा तरीका भी निकालो यारो।
कैसे आकाश में सूरख नहीं हो सकता
एक पत्थर तो तबीयत से उछालो यारो।

जीवन के इसी आशावाद को लिए दुष्यंत बार-बार आम आदमी से मुखातिब हुए हैं। एक और बानगी देखिए :

इस नदी की धारा में ठंडी हवा आती तो है
नाव जर्जर ही सही लहरों से टकराती तो है
एक चिनगारी कहीं से दूँड लाओ दोस्तो,
इस दिये में तेल की भीगी हुई बाती तो है।

दुष्यंत ने आम आदमी की पीड़ा, उसके संघर्ष को अपनी गज़लों में बड़े बेबाक ढंग से चित्रित किया। यही कारण रहा कि उनकी गज़लें हमारे परिवेश का एक ज़रूरी हिस्सा, ज़रूरी दस्तावेज़ लगती हैं। अपने चारों ओर बुनी जा रही कविता की एकरसता को तोड़ने के लिए दुष्यंत ने गज़ल को ही माध्यम चुना। यहां भी उनकी खास बात यह रही कि उनकी गज़लों में भाषा की दुरुहता कभी नहीं रही।

दरअसल उनकी गज़लें सदैव आम आदमी की जुबान की रहीं, स्वयं दुष्यंत इसे स्पष्ट करते हुए गज़लों की अपनी आत्मकथा में लिखते हैं- 'मेरी दिक्कत यह थी कि उर्दू मैं जानता नहीं और हिंदी में मुझे वह चुहल, वह मुहावरा और बोलचाल का वह बहाव नहीं मिला जिसके सहारे गज़ल कही जाती है या जो ज्यादातर लोगों की जुबान पर चढ़ा है। मगर यही अज्ञानता मेरे लिए एक शक्ति बन गई क्योंकि मुझे लगा कि आम आदमी एक मिली-जुली जुबान बोलता है। वह न तो शुद्ध उर्दू होती है और न शुद्ध हिंदी। इसलिए मैंने उस भाषा की तलाश की जो हिंदी को हिंदी, उर्दू को उर्दू दिखाई दे और आम आदमी उसे अपनी जुबान समझकर अपना सके।... वस्तुतः दुष्यंत की गज़लों की यह खास विशेषता भी है कि वे आम जुबान लिए हुए हैं। अनुभव और भाषा के स्तर पर उनकी सहज, सरस अभिव्यक्ति उन्हें समय तक की सीमा से मुक्त करती दिखाई देती है :

समर्थ कवि एवं विचारक के रूप में दुष्यंत की प्रतिभा का प्रखर परिचय उनके काव्य नाटक एक कंठ विषपायी से भी मिलता है। पौराणिक कथा का आधार लिए इस काव्य नाटक में वर्तमान मूल्यों को बखूबी स्वर दिया गया है। इसके साथ-साथ ही उनके द्वारा लिखे उपन्यासों छोटे-छोटे सवाल, आंगन में एक वृक्ष व दुहरी जिंदगी में उनके स्वयं के आत्मानुभूत घटनावृत्तों का चित्रण है। इसके अलावा, बकौल दुष्यंत, उन्होंने कुछ आलोचनात्मक पुस्तकें, कुछ फालतू उपन्यास व महत्वपूर्ण पुस्तकों का अनुवाद भी किया।

हालांकि साहित्य की लगभग सभी विधाओं में दुष्यंत ने अपनी सर्जनत्मक प्रतिभा का परिचय दिया परंतु जितनी सफलता उन्हें गज़लें लिखकर मिली उतनी साहित्य के किसी भी अन्य रूप में नहीं मिली। गज़लों में भी दुष्यंत ने कभी भी नकली मुखौटों और आडंबरों को स्वीकार नहीं किया। कविता को निरर्थक बौद्धिक बोझिलता से दुष्यंत ने सदैव दूर रखा। उन्होंने अपनी कविताओं या गज़लों के लिए अलग-अलग मुखौटे कभी भी इस्तेमाल नहीं किए और न ही अजनबी शब्दों का प्रयोग ही किया। कविता को चौकाने या आंतकित करने के लिए दुष्यंत ने कभी इस्तेमाल नहीं किया। स्वयं उनकी गज़लों में भी यही बात देखी जा सकती है :

सिर्फ हंगामा खड़ा करना मेरा मकसद नहीं
मेरी कोशिश है कि ये सूरत बदलनी चाहिए।

दरअसल जीवन के विभिन्न के अनुभवों का चित्रण करने उनकी गज़लों में एकरसता भी कहीं नहीं है। विचार और भावना की अतल गहराई से उपजी मनःस्थिति को व्यक्त करती दुष्यंत की गज़लें आम आदमी से सदैव जुड़ी रही हैं। अपनी गज़लों के माध्यम से दुष्यंत ने न केवल हमारी सम्यता के निर्मम पहलुओं को उजागर किया बल्कि समय के अधोपतन और बर्बरता से मुठभेड़ करने में भी उनकी गज़लें सदैव आगे रहीं। जीवन के यथार्थ को व्यक्त करती दुष्यंत की गज़लें जन-जन की गज़लें हैं।

आरंभ से ही मैं दुष्यंत से परिचित रहा हूँ-उनकी गज़लों के जरिए। आज जब साहित्य में शब्दाडंबरों के जाल पर जाल बुनकर हरेक अपने को साहित्यकार

कहलाने की होड़ में लगा है, साहित्य चाहे पाठकों तक पहुंचे ही नहीं, ऐसे में बहुत समय पहले कल्पना के पुराने अंक में पढ़ी स्वयं दुष्यंत द्वारा अपनी गज़लों के साथ लिखी आत्मकथा का अंश मुझे याद आ रहा है। उन्होंने लिखा है- 'हिंदी की आधुनिक कविता' जिसे पढ़ने के बाद एक धुंधला-सा चित्र उभरता है और जिसके बारे में पाठक निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि यह वही चित्र है जिसे कवि उभारना चाहता है यह प्रतिबद्धता किसी पार्टी से नहीं, आज के मनुष्य से है और मैं जिस आदमी के लिए लिखता हूँ वह आदमी उसे पढ़े और समझे।

व्यवस्था के विरोध के नाम पर साहित्य में नए-नए छद्म पैदा करने की कोशिश में लगे तथाकथित साहित्यकारों से दुष्यंत की रचनाएं सदैव अलग रही हैं। उनकी गज़लें सहज, सरस आम जन की जुबान भी उनके लिए ही हैं। यही कारण है कि आम आदमी की पीड़ा को लिए उनकी रचनाएं व्यापक पाठक वर्ग तक पहुंचीं और पढ़ी गईं परंतु आम आदमी तक पहुंचते-पहुंचते वह स्वयं हमसे बहुत दूर चले गए। दुष्यंत जीवन के लिए यह कहते :

हां! जिस दिन पिंजड़े की
सलाखें मोड़ लूंगा मैं
उस दिन सहर्ष
जीर्ण देह छोड़ दूंगा मैं !

□

परंपरा और समकालीनता के बीच...

पृष्ठ 32 से आगे

मानव आकांक्षा के साथ-साथ जीवन दर्शन की झलकियां मिलती हैं। छद्म वास्तविकता से वह परहेज करते हैं। मिसाल के तौर पर उनके दो शेर :

तरे दिल का कोना-कोना सुन, बंजर हो जाएगा
अगर पत्थरों में ठहरा तो खुद पत्थर हो जाएगा !
*** ***

भला बंद कमरों के भीतर ये गुलाब कब तक जीते
खुली हवा में जीने वाले घुट-घुटकर मर जाने थे !

अशोक अंजुम के अतिरिक्त कई और ऐसे समकालीन गज़लकार हैं जिनकी गज़लों में भौतिक ताप नहीं बल्कि आर्थिक रूपक का आकर्षक प्रयोग होता है जिसमें सामाजिक संवेदनात्मक स्वर ज्यादा मुखर होता है या कहा जाए, अध्यात्म और योग के आस्था-अनास्था मूलक तंत्र एवं राजनीति के वाद-विवाद से आतंकित न होकर लोक के प्रति निरपेक्ष सृजन-नैतिकता का निर्वाह करते हैं।

इसमें संदेह नहीं कि अनुकूल और प्रतिकूल सभी परिस्थितियों से संघर्ष करती हुई समकालीन गज़ल आगे बढ़ रही है जिसमें व्यक्ति के संस्कार, आग्रह भावुकता, लालसा भरे क्षण, आविष्कार के स्वर साफ-साफ सुने जा सकते हैं। यथार्थ का लंबा रास्ता तय किया है इसने।

अंत में यही कहा जा सकता है कि बहस और आलोचना की दुनिया में इसे एक बेहतर प्लेटफार्म की आवश्यकता है अन्यथा यह अपने बेहतर प्रदर्शन के बाद भी पीछे छूट जाएगी।

□

उस दौर में...

आजादी के बाद भी कुछ समय तक यहां का वातावरण यथावत बना रहा। इतना जरूर हुआ कि पाकिस्तान से शरणार्थी बनकर आए लोगों के कारण सड़कों पर कुछ भीड़ रहने लगी। धीरे-धीरे दिल्ली का मिजाज बदलता गया। कनाट प्लेस, सिंधिया हाउस के साथ वाली बिल्डिंग में 'इंडिया काफी हाउस' के अंदर भी गहमा-गहमी रहने लगी। नई दिल्ली का यह एकमात्र पुराना काफी हाउस था...जहां सब तरह के लोगों का आना-जाना रहने लगा। -बीते दिनों के संस्मरण सुना रहे हैं बल्लभ डोभाल

अपनी चौदह वर्ष की अवस्था में पहली बार मेरा दिल्ली आना हुआ था। तब दिल्ली इतनी व्यापक-विस्तृत नहीं थी। पुराना सचिवालय, चांदनी चौक, दरियागंज, कनाटप्लेस और पहाड़गंज जैसे कुछ गिने-चुने नाम ही ज्यादातर सुनने में आते। वह समय था जब यातायात के नाम पर दिल्ली की सड़कों पर महाराजा ग्वालियर की दो-चार बसें ही घूमती दिखाई देती थीं और दो-एक पैसे में पुरानी दिल्ली का इलाका ट्रामगाड़ी से घूम लिया जा सकता था। हर पांच-सात मिनट के बाद सड़क पर कोई कार दिखने में आती...जो किसी अंग्रेज अधिकारी या किसी रजवाड़े की होती।

उन दिनों मेरे मामा काल्टैक्स कंपनी में काम करते थे, जिसका कनाटप्लेस कार्यालय सिंधिया हाउस के साथ वाली बिल्डिंग में हुआ करता था। मामा के पास एक साइकिल थी। तब सुबह-शाम सड़कों पर साइकिलों की भरमार रहती। दिन के वक्त खाली सड़क पर मैं साइकिल के साथ उतर आता और कुछ समय के अंदर जब साइकिल चलाना सीख गया तो कभी पुराना किला, हौजखास, कुतुबमीनार जैसी बियाबान जगहों पर पहुँच जाता। अपने दिल्ली-प्रवास के दो महीनों में मैंने उन स्थानों को छान मारा जिन्हें दिल्लीवासी भी अब तक न देख पाए थे।

दूसरी बार फिर लाहौर से शरणार्थी बनकर दिल्ली आना हुआ और फिर जीवन का अधिकांश समय दिल्ली में ही गुजर गया। शायर की 'हम फिदा-ए-लखनऊ' वाली बात अपने पर भी लागू हो गई। जब हम दिल्ली पर फिदा थे तो दिल्ली क्यों न हम पर फिदा होती! आज भी दिल्ली हमारी बगलगीर बनी है।

आजादी के बाद भी कुछ समय तक यहां का वातावरण यथावत बना रहा। इतना जरूर हुआ कि पाकिस्तान से शरणार्थी बनकर आए लोगों के कारण सड़कों पर कुछ भीड़ रहने लगी। धीरे-धीरे दिल्ली का मिजाज बदलता गया। कनाट प्लेस, सिंधिया हाउस के साथ वाली बिल्डिंग में 'इंडिया काफी हाउस' के अंदर भी गहमा-गहमी रहने लगी। नई दिल्ली का यह एकमात्र पुराना काफी हाउस था...जहां सब तरह के लोगों का आना-जाना रहने लगा।

अब तक दिल्ली में चालू किस्म के लोग नहीं थे। सिर्फ अपने काम से मतलब रखने वाले लोग भी नहीं। लोग दूसरों की बातों में भी दिलचस्पी रखते।

तब दिल्ली वालों में मैत्री और सहयोग की भावना बरकरार थी। अकारण दोस्ती का हो जाना और एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति रखने जैसी बातें आम दिखने में आ जातीं।

मैं वहीं काल्टैक्स दफ्तर के ऊपर मामा के साथ रहने लगा और शाम के वक्त रोज ही काफी हाउस के कोने वाली एक टेबुल पर आकर बैठ जाता...। जहां रोज किसी-न-किसी से जान-पहचान हो रहती। रोज आने वालों से परिचय हो गया था। उन दिनों ज्यादातर हिंदी-उर्दू के लेखकों-शायरों को पहली बार मैंने वहीं देखा। शाम के वक्त देर तक ये ही लोग वहां बैठते और रोज ही कुछ-न-कुछ वहां घट जाता।

एक शाम देखा कि दो आदमी एक शराबी को पकड़कर अंदर ला रहे हैं। शराबी एकदम बेहोश तो नहीं था, पर कदम उसके जरूर लड़खड़ा रहे थे। वह काफी हाउस के अंदर नहीं आना चाहता था, तो भी कुछ लोग मना-फुसलाकर उसे भीतर ले आए और एक टेबुल पर उसे बिठाकर चारों ओर कुर्सियों का घेरा डालकर बैठ गए। मुझे किसी ने बताया कि ये ही महाशय उर्दू के मशहूर शायर जिगर मुरादाबादी हैं। स्टेशन पर घूम-घूमकर चश्मे बेचा करते हैं।

तब पहली बार मैंने जिगर साहब को देखा। उर्दू के जाने-माने शायर- जोश, फ़िराक साहब, कैफी आज़मी, साहिर, फैज़ आदि उन दिनों किसी मुशायरे के सिलसिले में दिल्ली आते तो मुशायरे से पहले उनकी महफिल वहीं जम जाती। उन दिनों साहिर लुधियानवी का *परछाईयां* नाम से एक संग्रह छपा था जिसकी चर्चा काफी हाउस में अक्सर हो जाया करती थी। उर्दू शायरी में हिंदी कविता से ज्यादा तीरगी और ताजगी पाने के कारण शायरी के प्रति अधिक रुझान हो आया।

काफी हाउस में साहिर से तकरीबन रोज ही मुलाकात हो जाती। साहिर उन दिनों काफी फटे हालातों से गुजर रहा था। मिलते ही सिराएट की फरमाइश कर बैठता। मैं उसका पसंदीदा ब्रांड कैप्टन लाकर देता तो उसके चेहरे से उदासी जैसे छंट जाती। उसे हमेशा गले में मफलर लपेट रखने की आदत थी। सर्दियों की एक शाम...मेरे गले में जब उसने कुल्लू का शालनुमा मफलर देखा तो लगातार उसी की तारीफ करता रहा। कहीं उसे मांगना पड़े, इससे पहले ही मैंने मफलर उतारकर उसे दे दिया।

एक अच्छा शायर होने की वजह से मैंने उसे दिल से चाहा। दोस्ती कायम रखी, लेकिन साहिर को किसी के चाहने अथवा दोस्ती से गरज नहीं। बंबई, फिल्मों जाने के बाद कई खत उसके नाम किए, बीते दिनों की याद दिलाई, किंतु साहिर का कोई जबाब नहीं। उसके बाद दिल्ली में भी वह कहीं दिखाई न दिया।

उन दिनों काफी हाउस में भी खूब शायरी चलती। उस शाम लोगों की मिन्नत पर जिगर साहब ने पहले जिन लाइनों को सुनाया, वे आज भी मेरी यादों में बनी हुई हैं :

कुछ इस अंदा से आज वो पहलूनशीं रहे
जब तक हमारे पास रहे, हम नहीं रहे!

जिगर साहब का गज़ल कहने का अंदाज दूसरों से हटकर था और तरन्नुम भी अपनी ही तरह का होता। इस एक ही मिसरे पर देर तक वाह!...वाह! मची रही। इसके बाद एक गज़ल पढ़कर जिगर साहब बाहर निकल गए। लगा कि मुझे लेकर ही ये लाइनें लिखी गई हैं। कई दिनों तक उन्होंने लाइनों को गुनगुनाता रहा।

बरस रही है जिंदगी, तरस रही है जिंदगी
नफ़स-नफ़स में तरनगी की दासतां लिए हुए
फिरा करेगी जिंदगी कहाँ-कहाँ लिए हुए!

अपनी बाईस-चौबीस वर्ष की अवस्था तक मैं भी कहाँ-कहाँ न भटकता रहा। जिंदगी ने अब तक क्या-क्या न दिखा दिया था। आगे भी जाने क्या-कुछ देखना है! मुझे लगता कि सबके जीवन में भटकने का एक दौर जरूर आता है। उन दिनों घूमना-फिरना और लोगों से मिलने-मिलाने में ही मजा आता।

एक दिन किसी ने बताया कि उधर कोने वाली टेबुल पर रामधारी सिंह दिनकर बैठे हैं। दिनकर जी की रचनाएं पाठ्यक्रमों से हटकर भी मैं पढ़ चुका था। हिंदी के अनेकों कवियों की रचनाएं मन में ही नहीं, अक्सर जुबान पर भी आ जाया करती थी। तब मेरा भावुक मन इन लोगों के प्रति श्रद्धा और आदर से विभोर हो उठता। जितनी अच्छी रचनाएं हैं उतने ही अच्छे व्यक्ति भी होंगे।

दिनकर जी से मिलने का अवसर मिला था। अपनी टेबुल से उठकर विनम्र भाव में उनके सामने जा खड़ा हुआ। उनके साथ बैठे महोदय उठकर चले गए तो सामने वाली कुर्सी पर जा बैठा। उर्वशी काव्य में 'अपने समय का सूर्य हूँ मैं' कहने वाले दिनकर जी तब सूर्य जैसे लगते भी थे। सूर्य जैसा तेज उनके चेहरे पर मुझे लगा।

कुछ क्षण देखने के बाद पूछा, "क्या करते हो?"

"अभी तो कुछ नहीं, आप लोगों से लिखने की प्रेरणा मिली है, सो कोशिश कर रहा हूँ कि मैं भी कविता लिख सकूँ।"

दिनकर जी ने घूरकर देखा। बोले, "अरे, जब हम कविता लिख रहे हैं तो तुम्हें लिखने की क्या जरूरत पड़ी है...बोलो।"

लगा, जैसे किसी ने मुझे फर्श पर पटक दिया हो। कोई उत्तर देते न बना। मन-ही-मन स्वीकार कर लिया कि इनके जैसी सुंदर कविता हम कैसे लिख सकते हैं! सोचता वहीं बैठा रह गया।

दिनकर जी ही वहां से उठ गए।

तो भी लेखकों से मिलने की उत्सुकता कम न हुई। अक्सर ऐसे लोग भी मिलते रहे, जिनकी बातचीत में अच्छी-से-अच्छी रचनाएं भी फीकी ही रह जाती

हैं।

उस दौरान दिल्ली में रहने वाले लेखकों से उनके घर जाकर भी मिल आता।

एक दिन नवीन जी के अस्वस्थ होने की खबर सुनी तो इसी बहाने नॉर्थ एवेन्यू उनके घर जा पहुंचा। तब वह हास्पिटल जाने को तैयार बैठे थे। अभी ठीक से परिचय भी न हुआ कि टैक्सी वाला बरामदे में आ पहुंचा। नवीन जी उठकर जाने लगे।

"मैं भी साथ चलूँ?" ...पूछने पर उन्होंने पत्नी को आवाज देकर बुलाया, फिर मुझसे बोले- "तुम यहीं इनके साथ बैठो, जब तक हम लौट नहीं आते, यहीं बैठे रहना।"

उनके चले जाने के बाद हम देर तक कमरे में बैठे रहे। 'नीम का पेड़' उनकी कविता मुझे सर्वाधिक प्रिय थी जो शायद वहीं लॉन में उगे नीम पर लिखी गई थी।

यहीं से हमारी बातचीत का दौर शुरू हुआ। उनकी पत्नी को भी उनकी सारी कविताएं याद थीं। जिस स्वाभाविक, सहज-भाव से मुझे उसके साथ बैठने को कहा गया था, उससे वह जान तो गई कि मैं नवीन जी का अत्यंत निकटतम या कोई रिश्तेदार हूँ, लेकिन मुझे मालूम न हो सका कि वह कौन हैं। पचास-पचपन वर्ष के नवीन जी की बीस-बाईस वर्षीय युवती पत्नी तो नहीं हो सकती। देर के बाद मालूम पड़ा कि एक कवि के प्रति आकर्षित होकर उसने ही नवीन जी का पति रूप में वरण किया है।

मेरा आश्चर्य इस बात पर बना रहा कि किस सहज-भाव के साथ अपनी सुंदर, युवा पत्नी को एक अपरिचित के साथ अकेले घर में छोड़कर नवीन जी चल देते हैं। दो घंटे बाद जब हास्पिटल से लौटे तभी मेरा परिचय लिया गया। तब से उनके पास मेरा आना-जाना बना रहा। कभी कॉफी हाउस में मिल जाते तो कॉफी के साथ बंदिया केक भी खाने को मिल जाता।

उन दिनों कॉफी हाउस मेरे जीवन का वह केंद्र बना था जहां से हर दिशा को रास्ते खुलते रहे हैं। ऐसे लोग भी वहां मिल जाते जो अपनी टेबुलों पर बैठे अनजान-अपरिचितों को भी नाश्ता-पानी के लिए पूछ लिया करते।

एक शाम एक अपरिचित व्यक्ति ने कॉफी पिलाते पूछताछ भी शुरू कर दी। मैंने अपने रहने का ठिकाना उसे बताया, साथ ही यह भी बता दिया कि-करता-धरता कुछ नहीं हूँ।

"कुछ तो करना चाहिए, तुम्हारे जैसे नौजवान का बेकार बैठना अच्छा नहीं।" वह बोला।

उन्हीं दिनों मामा ने एक द्यूशन दिलवा दी थी। वहीं पास में 'डी एंड कंपनी' के मालिक की बहन को पढ़ाने जाया करता था। मुझे मालूम नहीं था कि उसकी बहन सविता शादीशुदा है और किसी आपसी रंजिश के कारण पति के साथ न रहकर डी-साहब के पास ही रह रही है।

हफ्ते बाद फिर वही आदमी कॉफी हाउस के अंदर मेरे पास आ बैठा। आते ही कॉफी का ऑर्डर दिया और फिर से पूछताछ शुरू कर दी।

"कुछ कर रहे हो?"

"हां, फिलहाल एक द्यूशन कर रहा हूँ।"

उस दिन उसने मेरी पढ़ाई-लिखाई के बारे में भी पूछ लिया। मैंने जब बताया

कि पंजाब यूनिवर्सिटी से बी.ए. और हिंदी प्रभाकर किया है तो बोला, “इतना पढ़े हो तो नौकरी क्यों नहीं कर लेते, द्यूशन से क्या बनेगा! द्यूशन आज है, कल नहीं। नौकरी में पैसा भी ज्यादा मिलेगा और इस तरह भटकने से भी बच जाओगे।”

मैं चुप। सोचता रहा, मुझे लेकर यह आदमी इतना परेशान क्यों है। कॉफी खत्म होते ही उसने पूछा, “द्यूशन का कितना पैसा वे लोग तुम्हें दे देंगे?”

“यही पच्चीस-तीस से ज्यादा नहीं।”

उसने तीस रुपए निकालकर मेरे आगे रख दिए— “यह पैसा मुझसे लो। कल यहीं पर मिलना। मैं कई द्यूशनों तुम्हें दिलवा दूंगा, लेकिन इस शर्त पर कि कल से तुम वहां पढ़ाने नहीं जाओगे।” कहकर वह कॉफी हाउस से बाहर हो लिया।

रात में जाकर मामा को बताया तो मामा ठगे-से रह गए। मामा उन लोगों को जानते थे। बोले, “वह जो आदमी तुम्हें पैसे दे गया है वही सविता का पति है, वह शायद नहीं चाहता कि तुम उसे पढ़ाया करो।”

यह कहकर मामा ने पैसे रख लिए कि कल उसे वापस लौटा देंगे।

मुझे सविता पर तरस आने लगा। सोचा, कल सविता के पति से पूछूंगा कि सविता यदि पढ़ना चाहती है तो इसमें बुरा क्या है। मैं बिना पैसे लिए भी उसे पढ़ा सकता हूँ। किंतु उस स्थिति में सविता का पक्ष लेना उसके लिए परेशानी का कारण बन सकता है, सोचकर रह जाना पड़ा।

अगले दिन सविता के पति से मुलाकात हुई तो उसने वहीं पास में रहने वाले एक नेताजी का नाम-पता लिख दिया। बोला, “इन्से जाकर मिलो। हमसे मिलते रहोगे तो और भी कई लोगों से तुम्हें मिला देंगे। नौकरी करना चाहो तो वह भी मिल जाएगी।”

उन दिनों घूमने-फिरने का ही ज्यादा शौक था। नौकरी में एक जगह बंधकर रह जाना है, जो मुझे स्वीकार न था। द्यूशनों का सिलसिला शुरू हुआ तो फिर लगातार बाईस-चौबीस वर्षों तक वही करता रहा। अपने जीवन और भरपूर जवानी के लगभग तीस वर्ष द्यूशन करते एक सपने की तरह निकल गए। सपने में जो देख लिया, बस! उतना ही जीवन है।

नेताजी के संपर्क में आने के बाद इस सपने की शुरूआत होती है। जैसे कि सपने दिखाना ही नेताओं का काम रहा हो। नेताजी को भी शायद मेरे जैसे स्वप्नजीवी की जरूरत थी। उनके एक बेटा और बेटी थी, जिन्हें पढ़ाने के लिए दो टीचर सुबह-शाम बारी-बारी आया करते। जाहिर है कि वहां मेरी जरूरत नहीं थी, तो भी नेताजी ने यह कहकर कि मेरे पास और भी कई काम हैं, मुझे रोक लिया।

जब उन्हें मालूम पड़ा कि नौकरी मेरे बस की नहीं तो बोले, “तुम्हें कुछ करना-धरना नहीं है, बस कुछ देर मेरे पास आकर बैठ जाया करो।”

तब कई बार अपना फालतू समय बिताने मैं नेताजी के घर आकर बैठने लगा। जहां दिन-भर कई तरह के लोगों का आना-जाना बना रहता। कई बार आपस में बैठकर जब वे देश की गरीबी, बेरोजगारी जैसे विषयों पर चर्चा करते तो मैं देर तक वहीं उनकी बातें सुनता रह जाता। कभी गांधी और गांधी को लेकर बहस छिड़ जाती तो अपने पहाड़ और गांव-घरों की छेटी-बड़ी समस्याएं बातचीत में मैं भी उनके सामने रख देता।

यहां आने वाले सभी लोग खहरधारी हुआ करते थे। आपस में सब भाई-भाई। रामभाई, केशवभाई, करणभाई, सोमभाई जैसे नाम। अपने नेताजी को भी लोग भाई जी कहकर बुलाते। दूसरे भाइयों की तरह वह भी सफेद खहर की धोती, कुर्ता और जाकिट पहने रहते। इसी वेषभूषा में खादी अहिंसक चप्पल और खादी पशमीने की चादर जब कंधे पर रखते तो उनका गांधीवादी या सर्वोदयवादी व्यक्तित्व निखर आता।

तब पहली बार मुझे मालूम हुआ कि अपने-अपने ‘वादों’ से लोग बंधे हुए हैं। उन दिनों खादी का जोर था। इन लोगों की बातचीत से पता चला कि गांधी ने खादी-कार्यक्रम देश की बेरोजगारी दूर करने के लिए अपनाया है। खादी है कि जिससे गरीब-मजदूर नंगे तन को ढांप सकें। लेकिन इन लोगों के लिए खादी तभी से बतौर एक फैशन बन आया था। सभी खादी, हिंदी और स्वदेशी के कायल...जब कि घरों में इनके बीबी-बच्चों को प्रायः अंग्रेजी वेशभूषा और इसी भाषा में बोलते देखा जा सकता था।

भाई लोग जितने ढीले कपड़े इस्तेमाल करते, उतने ही ज्यादा चुस्त, बदन से सट जाने वाले ब्लाउज और पतलूनों में उनकी घरवालियों को देखकर मेरी आंखें अक्सर झुक जातीं। लेकिन देखे बिना भी चैन कहा था! आंखें चोरी-छिपे स्थितियों का आकलन किए रखतीं।

खादी-परिधान में भाई जी अच्छे लगते। कहना चाहिए कि उनके टिंगनेपन और कृष्ण-काया को खादी ने कुछ तो निखार दिया था।

कुछ दिन साथ रहने पर एक दिन भाई जी ने दो सौ रुपये निकालकर मेरे हाथ पर धर दिए। बोले, “मेरे साथ रहोगे तो इतना पैसा तुम्हें हर महीने मिल जाएगा।”

बिना किसी काम के पैसा लेना मुझे अच्छा न लगा। लौटाने की बात की तो बोले कि तुमने मेरे साथ अपना समय तो गंवाया है। पैसा रखो, जरूरत पड़े तो और ले लेना।...कहकर भाई जी ने मुझे कृतज्ञ बना लिया। वहां सभी कुछ अनुकूल पाकर मेरा ज्यादा समय वहीं बीतने लगा।

भाई जी के पास पैसे की कमी नहीं। पैसा था, बड़ा घर था। घर के आगे फैले हुए लॉन की देखरेख दो मालियों के जिम्मे कर दी गई थी। गेट के बाहर दो विदेशी कॉर्...जिनमें एक को भाई जी अपने पास रखते। दूसरी के लिए डाइवर रखा था और जो घर के दूसरे कामों में इस्तेमाल की जाती थी। भाई जी ने डाइवर को समझा दिया था कि बल्लभ जी चाहें तो उन्हें कहीं भी ले जाने की छूट है।

घर में दो नौकरों के अलावा कुछ दूसरे लोग भी काम पर आया करते थे। घर के एक हिस्से को दफ्तर जैसा बना लिया था। धीरे-धीरे मालूम पड़ा कि कई कंपनियों के साझेदार होने के साथ-साथ दिल्ली के आसपास भाई जी की जमीनें भी फैली हुई हैं और घर के जरूरी कामों से लेकर कोर्ट-कचहरी तथा कंपनियों के झगड़े-झड़पों का निपटान ये ही लोग किया करते हैं।

भाई जी हर जोखिम से अपने को दूर रखते। कई बार अपनी जैसी मस्ती मुझे उनके स्वभाव में भी दिख जाती। तब घर में तैयार खाना छोड़कर वह मुझे किसी होटल में ले जाते। खाना खाकर वहीं से हम शहर से अपनी जमीनों में बाहर उस जगह पहुंचते, जहां भाई जी ने कच्ची ईंटों के घर बनवाकर चौकीदारों को सपरिवार बसा लिया था।

हफ्ते-दो हफ्ते बाद भाई जी का वहां जाना जरूरी था। जाते तो चौकीदार और उनके बीबी-बच्चों को पैसे बांट आते। उन गरीब परिवारों के प्रति भाई जी

की यह उदारता अच्छी लगती। लगता कि वे भी भाई जी से खुश हैं। इतने निकट कि बीबियां अक्सर भाई जी को एक किनारे ले जातीं और कुछ हंसकर कुछ, शरमाकर अपनी बात भी कह जाती हैं।

उस घर में रहते कई तरह के लोगों से परिचय हो गया। इस बीच भाई जी ने स्वयं ले जाकर कुछ ऐसे परिवारों से भी परिचय करा दिया, जहां वक्त-बे-वक्त मेरे आने-जाने में किसी तरह का संकोच नहीं था। उनके लिए भाई जी पैसा अथवा कोई चीज भेजते तो मैं जाकर वहां दे आता। वहां बच्चे और घर की मालकिनें भाई जी की तरह मेरा भी स्वागत-सत्कार करने लगी थीं।

कई बार महसूस होता कि भाई जी से अधिक वे लोग मुझे चाहने लगे हैं। कई बार उनकी जोर-जबर्दस्ती पर चाय-नाश्ता या खाने पर मजबूर होकर रह जाना पड़ता। खाना तैयार होने तक उनके बच्चों को गाड़ी में बिठाकर घुमा लाता। इन घरों की कुछ घरेलू जिम्मेदारियां मेरे ऊपर डालकर भाई जी ने मुझे अपना विश्वासपात्र बना लिया था। किसी पर इतना विश्वास करने का मतलब उसे ज्यादा करीब लेना ही होता है।

कुछ दिन बाद अलग से एक कमरे में नया टेलीफोन लगवाकर बोले, “अब तुम यहीं बैठो करो, कहीं जाने की जरूरत नहीं है। वे लोग अपनी जरूरत यहीं टेलीफोन पर तुम्हें बता दिया करेंगे, वह तुम मुझे बता दिया करना। यहां घर में किसी को कुछ बताने की जरूरत नहीं।”

मेरे अलावा किसी को मालूम भी न था कि इस घर के अलावा भाई जी ने और भी ठिकाने बना रखे हैं। जहां एक को दूसरे की भनक तक नहीं। ऐसे मामलों में शहर ज्यादा सुविधाजनक है। आदमी के एक-दूसरे से कटे रहने के कारण पास-पड़ोस का भी पता नहीं चलता। फिर पैसे का अपना कमाल है। पैसे के बूते क्या नहीं किया जा सकता! जैसे कि उन महिलाओं के पतियों को विदेशों में नौकरियां दिलवाकर भाई जी अपना शौक पूरा कर रहे थे।

मेरे लिए दिन भर कमरे में बैठने की मजबूरी बन आई थी। मन-ही-मन भाई जी की सूझ-बूझ की दाद देता। किस अंदाज से पंखी को पिंजरे में कैद कर लिया है! घूमने-फिरने की जगह उन महिलाओं के फोन, उनकी फरमाइशें सुनना और शाम तक वह सब भाई जी को बताना मेरी जिम्मेदारी बन आई थी।

मजे की बात यह कि भाई जी खादी-कार्कर्मों में भाग लेने के बहाने प्रायः घर से निकल जाते। तब मन-ही-मन मुझे हंसी आती जब इस घर के लोग बाकायदा उनका जरूरी सामान, रोजमर्रा इस्तेमाल की चीजें अटैची में डालकर उन्हें विदा किया करते रहे। मुझे मालूम था कि यहां से निकलकर भाई जी घूम-फिरकर शाम तक वहीं किसी एक घर में पहुंच जाएंगे...और दो-चार दिन बाद ही फिर उनका वापस लौटना होगा।

भाई जी क्या करते हैं, कहां जाते हैं, इन बातों से मेरा कोई लेना-देना नहीं था। मेरी परेशानी का कारण था कि न चाहते हुए भी एक जगह बंधकर रह गया हूं।

परेशानी तब और बढ़ गई जब उनकी बिटिया भी आकर उसी कमरे में बैठने लगी। सालाना इम्तिहान में कंपार्टमेंट आने के बाद हिंदी पढ़ने के बहाने उसने भी मेरी कुर्सी से कुर्सी भिड़ा दी। वह अक्सर था जब पहली बार दो सुंदर बड़ी-बड़ी आंखों को मैंने अपने करीब बहुत-कुछ बोलता हुआ पाया। आंखों

की भाषा भी कितनी मूक और स्पष्ट होती है, पहली बार मेरे अनुभव में आ रहा था। उसकी ओर से इस आंखमिचौली के चलते बीच में आने वाले फोन उठाकर वह उनका नाम-पता भी पूछ लेती, जिसका उत्तर पाने की जगह फोन काटकर ही रख दिया जाता। बार-बार ऐसा होने पर वह कहती, “बल्लभ जी, आपके लिए लड़कियों के फोन बहुत आते हैं। लड़कियां भी बहुत चालू लगती हैं। मेरी आवाज सुनते ही फोन रख देती हैं।”

मैं उसे क्या बताता कि किसके फोन हैं और क्यों आते हैं। मेरा तनाव तब और बढ़ जाता। प्रायः रोज ही ऐसा होने लगा तो एक दिन बिटिया ने अपनी मम्मी को बात बता दी। बातों-बातों में बहन जी एक दिन बोल पड़ीं— “पहाड़ के लोग ज्यादातर सीधे-सादे, साफ-सुथरे होते हैं, पर आपने तो कई लड़कियों से दोस्ती पाल रखी है।”...

उन दिनों पहाड़ की अपनी खासी पहचान थी कि लोग आंखें मूंदकर पहाड़ी लोगों पर विश्वास कर जाते थे। अब तक मैं भी उन लोगों का विश्वासपात्र बना था। जब मालूम हुआ कि कई लड़कियों से दोस्ती पाल रखी है तो सबकी हंसी का पात्र बन गया। इस बहाने उनके कर्मचारी भी तरह-तरह की बातें सुना जाते। बातें जब बदरित से बाहर होने लगीं तो मैंने वहां से निकल जाना ही ठीक समझा। भाई जी को अपने जाने की बात बताई तो बोले, “उन लोगों को बकने दो। मैं तो जानता हूं कि तुम क्या हो।”

“आप जानते हैं, पर केवल आपके जानने से क्या...बातें तो मुझे सुनी पड़ती हैं। इसलिए मेरा जाना ही ठीक रहेगा।”

भाई जी ने रोकने की बहुत कोशिश की। मुंहमांगा पैसा देने को तैयार हो गए। लेकिन हरवक्त उनके व्यंग्य-वाणों को सहने का हौसला न रहा तो एक शाम भाई जी से क्षमायाचना कर मैं वहां से चल दिया। फिर अपनी कॉफी हाउस की वही कोने वाली टेबुल थी...और मैं था। □

लेखकों से

- रचना भेजने के लिए कोई शर्त नहीं है। सभी रचनाओं का हम स्वागत करते हैं।
- रचना एक तरफ टाइप की हुई या स्पष्ट लिखी होनी चाहिए। रचना के अंत में अपना नाम व पूरा पता अवश्य लिखें।
- यदि आप अस्वीकृत रचना वापस चाहते हैं तो कृपया अपना पता लिखा, डाक टिकट लगा लिफाफा लगाना न भूलें।

संपादक

आजकल

प्रकाशन विभाग

पटियाला हाउस

नई दिल्ली-110001

दूरभाष : 3387876

श्रुतेन यत्नेन च वाग्नुपासिता...

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी बड़े मृदुभाषी व विनम्र स्वभाव के व्यक्ति थे। अहंकार की भावना उनसे छू तक नहीं गई थी। वह सहिष्णुता व दयालुता की प्रतिमूर्ति थे। अपने से छोटों का वह सदैव सम्मान किया करते थे। अपने काल के नवीन लेखकों, कवियों व साहित्यकारों को उन्होंने बड़ा प्रोत्साहन दिया और अपने से बड़ों को यथोचित आदर-सम्मान भी। जगमोहन अवस्थी ने उन दिनों कविता के क्षेत्र में पर्दापण किया ही था। द्विवेदी जी का उनके प्रति विशेष स्नेह था। दोनों के बीच एक लंबे अंतराल तक पत्र-व्यवहार चलता रहा। इस पत्र-व्यवहार का ब्यौरा प्रस्तुत कर रहे हैं सुरेंद्र श्रीवास्तव

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को कौन साहित्य प्रेमी नहीं जानता? हिंदी साहित्य की सेवा व उन्नति के लिए द्विवेदी जी ने अपना सर्वस्व होम कर दिया। वह जीवन पर्यंत हिंदी को नया जीवन, नया स्वरूप, नया सौष्ठव प्रदान करने में जुटे रहे। उनकी साहित्य सेवा का सहज अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि उनके नाम पर हिंदी साहित्य में 'द्विवेदी युग' नाम से एक अध्याय ही जुड़ा हुआ है।

द्विवेदी जी बड़े मृदुभाषी व विनम्र स्वभाव के व्यक्ति थे। अहंकार की भावना उनसे छू तक नहीं गई थी। वह सहिष्णुता व दयालुता की प्रतिमूर्ति थे। अपने से छोटों का वह सदैव सम्मान किया करते थे। अपने काल के नवीन लेखकों, कवियों व साहित्यकारों को उन्होंने बड़ा प्रोत्साहन दिया और अपने से बड़ों को यथोचित आदर-सम्मान भी।

पंडित जगमोहन अवस्थी ने उन दिनों कविता के क्षेत्र में पर्दापण किया ही था। द्विवेदी जी का उनके प्रति विशेष स्नेह था। दोनों के बीच एक लंबे अंतराल तक पत्र-व्यवहार चलता रहा। द्विवेदी जी सदैव उन्हें 'आप' कहकर संबोधित किया करते थे।

वृद्धावस्था में द्विवेदी जी अपने जन्मस्थान रायबरेली (उ.प्र.) जिले के दौलतपुर ग्राम में जाकर रहने लगे थे। पंडित जगमोहन अवस्थी रायबरेली में रहते थे। पत्रोत्तर देने के मामले में द्विवेदी जी कभी भूल अथवा देरी नहीं करते थे। उनके पत्रों से एक बात स्पष्ट होती है कि दोनों के बीच पत्र-व्यवहार सामान्यतः पोस्टकार्ड पर ही होता था। तो भी उन छोटी-छोटी पत्र सामग्रियों में वह रोचकता, जिज्ञासा एवं व्यथा-कथा भरी हुई है, जो पाठक के हृदय को द्रवित कर देती

है। पत्रों की भाषा तनिक भी क्लिष्ट नहीं है और भाव सीधे हृदय पर प्रभाव डालते हैं।

अवस्थी जी के 26 अगस्त, 1932 के पत्र का द्विवेदी जी ने यह उत्तर दिया था :

दौलतपुर (रायबरेली)
29.8.32

सुभाशिषः संतु,

26 अगस्त का पोस्टकार्ड मिला। यह जानकर खुशी हुई कि आप स्वाध्याय कर रहे हैं। ईश्वर करे, आपकी मनोरथ सिद्धि हो। पुस्तकावलोकन से ज्ञानवृद्धि और बहुश्रुतता अवश्य ही होती है।

मेरा शरीर वैसे ही लस्टम-पस्टम किसी तरह चला जाता है।

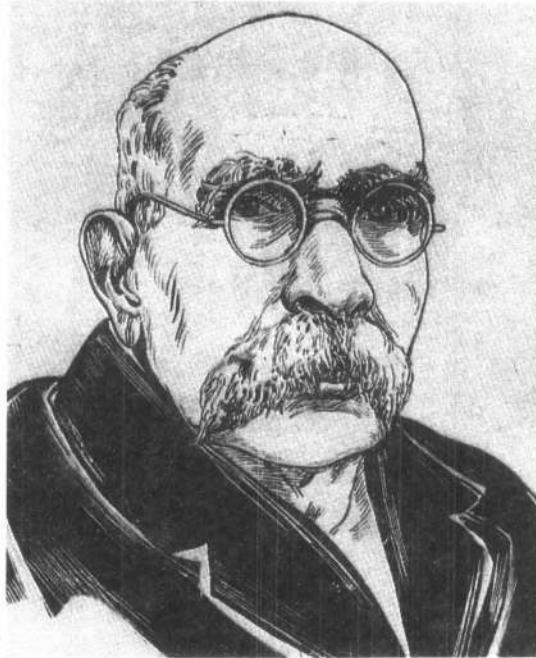
शुभाकांक्षी
महावीर प्रसाद द्विवेदी

द्विवेदी जी व अवस्थी जी में कितनी घनिष्ठता व आत्मीयता थी, प्रस्तुत पत्र इसको दर्शित करता है :

दौलतपुर (रायबरेली)
11.11.32

नमोनमः,

आठ-दस रोज बाद, एक जरूरी काम से, मुझे लखनऊ जाना है। विचार है, वहीं से एक रोज के लिए रायबरेली चला आऊं और आप सब लोगों से मिलूं। कृपा करके लिखिए पं. गुरदयाल जी व पं. शिवगोविंद जी इस महीने घर पर ही रहेंगे या नहीं। मैंने उनको लिखा था, पर शायद मेरा कार्ड उन्हें नहीं मिला। उनके यहां



आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी

उठरने का ठीक-ठीक प्रबंध न हो तो मैं बेलीगंज में उठर सकता हूँ। वहाँ मेरे मौजे के पं. परमेश्वरीदयाल मिश्र की कपड़े की दुकान है।

भवदीय

महावीर प्रसाद द्विवेदी

जैसा कि उपर्युक्त पत्र से स्पष्ट है कि द्विवेदी जी ने लखनऊ जाने का कार्यक्रम बनाया था, लेकिन वृद्ध जर्जर शरीर का क्या भरोसा ? कब विवश कर दे चारपाई पकड़ने को? भाग्य ने उनके साथ धोखा किया और उनका निर्धारित कार्यक्रम असफल हो गया। इस संबंध में उन्होंने अवस्थी जी को यह पत्र लिखा:

दौलतपुर (रायबरेली)

19.11.32

आशीष,

पोस्टकार्ड मिला। दुर्भाग्य मेरा पीछा नहीं छोड़ता। जान पड़ता है, मैं अब बाहर जाने लायक नहीं। जाने की तैयारी करते ही पेचिश हो गई। कोई एक हफ्ते तंग रहा। बहुत कमजोर हो गया। आज कुछ अच्छा हूँ। अब कुछ दिन घर न छोड़ सकूँगा। यहीं पड़ा रहूँगा।

शुभैषी

म.प्र. द्विवेदी

उपर्युक्त पत्र के उत्तर में प्राप्त अवस्थी जी के पोस्टकार्ड का उत्तर देते हुए उन्होंने यह पत्र भेजा था :

दौलतपुर (रायबरेली)

18.12.32

नमोनमः,

पोस्टकार्ड मिला। मैं 20 नवंबर को लखनऊ जाने वाला था। मोटर मंगाई थी। पर, तैयारी करते ही बीमार पड़ गया। नहीं जा सका। जाता तो वहाँ से रायबरेली जरूर आता। देखूँ, अब कब आप लोगों से मिलने का मौका आता है! ग्वालियर तो बहुत दूर है, मैं तो कानपुर तक भी जाने की हिम्मत नहीं कर सकता। कमजोर बहुत हूँ।

शुभैषी

म.प्र. द्विवेदी

इस बीच जगमोहन अवस्थी जी ने अथक परिश्रम करके अपनी प्रमुख कविताओं का एक संग्रह तैयार कर लिया। संग्रह तो उन्होंने तैयार कर लिया, लेकिन समस्या उसके प्रकाशन की हुई। उलझन पैदा होने पर उन्होंने द्विवेदी जी के पास प्रकाशन संस्था के संबंध में परामर्श हेतु लिखा। द्विवेदी जी ने निम्न पत्र के रूप में महत्वपूर्ण सलाह लिख भेजी :

दौलतपुर (रायबरेली)

11.2.34

नमस्कार,

कार्ड मिला। आप यथेष्ट उन्नति करते जा रहे हैं, यह जानकर मुझे बड़ी

खुशी होती है।

अपनी कविताओं का संग्रह आप गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ; इंडियन प्रेस, इलाहाबाद और भारती भंडार, काशी वगैरह को भेजकर उसका प्रकाशन कराइए। पूछिए, वे लोग कोई लेने को राजी हैं या नहीं।

बोर्ड के सेक्रेटरी साहब तक पहुँचा सकते हैं तो मेरी यह प्रार्थना पहुँचा दीजिए कि मवेशीखाने की इमारत भी बनवा दें। कच्ची तो बनती ही है। स्कूल तो बन ही रहा है, लगे हाथ वह भी बन जाए।

शुभैषी

म.प्र. द्विवेदी

ढलती उम्र के साथ-साथ शरीर भी ढलता जा रहा था। और, ऊपर से बीमारी का प्रकोप और कठिनाइयाँ उत्पन्न किए हुए था। कमजोरी काफी हो गई थी। पढ़ने-लिखने में भी कष्ट होता था। लेकिन, रोगों से घिरे होने पर भी वह अविचलित-से अवस्थी जी को निरंतर साहित्य तप का निर्देश देना न भूलते थे, जैसा कि अवस्थी जी को लिखे उनके इस पत्र से स्पष्ट है :

दौलतपुर (रायबरेली)

22.8.34

शुभाशिषः,

20 अगस्त का पोस्टकार्ड मिला। खुशी हुई। मुझे लिखने-पढ़ने में कष्ट होता है। उससे बचना चाहता हूँ। इसी से बहुत कम पत्र लिखता हूँ। आप खूब स्वाध्याय किया कीजिए और कविता निर्माण में संलग्न रहिए।

श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता,

ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्।

शुभैषी

म.प्र. द्विवेदी

समय और बीता! व्याधि, कमजोरी आदि ने अपना प्रभाव और बढ़ा दिया। शरीर सूखकर कांटा हो गया। देह कृशकाया-सी होकर रह गई। वह जीवन की गाड़ी को खींचते-खींचते थक गए थे। जीवन में कोई उन्माद, कोई उत्साह उनको शेष नहीं दीखता था। वृद्धावस्था के असह्य कष्टों से वह आजिज आ गए थे। तभी तो, अवस्थी जी के 22 फरवरी, 1935 के पत्र के उत्तर में उन्होंने यह निराशापूर्ण पत्र भेजा था :

दौलतपुर (रायबरेली)

24.2.35

शुभाशिषः संतु,

22 फरवरी का पोस्टकार्ड मिला। आपकी कृपा और सहानुभूति के लिए धन्यवाद।

मेरी उन्निद्रता कुछ कम हो गई थी। अब फिर जैसी की तैसी है। कमजोरी बढ़ रही है। कभी-कभी गंश भी आ जाता है। उधर कमला किशोर और उनकी पत्नी, दोनों आदमी बीमार हो गए। दवा के लिए वे दोनों कानपुर गए हुए हैं। मेरे लिए ईश्वर से प्रार्थना कर दीजिए कि अब बहुत दिनों तक कष्ट न भोगना पड़े।

शुभैषी

म.प्र. द्विवेदी

मजहब की कीमत

घनश्याम अग्रवाल

तीन दिन से नाले में दुबका वह बूढ़ा भिखारी, आज कफरू में कुछ चूट मिली तो पेट की आग बुझाने, सड़क पर हाथ फैलाए चिल्ला रहा था- 'भगवान के नाम पर मुझे चार आने दो-तीन दिन से भूखा हूँ।'

पर कुछ लोग जली हुई और लुटी हुई दुकानों का नजारा देखने में व्यस्त थे तो कुछ सामान खरीदने में। उसकी हथेली पर मात्र दो चवन्नियां ही थीं। दो-तीन चवन्नी और मिल जाएं तो वह कुछ खा-पी लेगा- यह सोचता हुआ वह आगे बढ़ता गया।

कफरू का समय हो गया था। लोग तेजी से अपने-अपने घरों की ओर बढ़ने लगे। दुकानें बंद होने लगीं।

वह भी तेजी से अपने नाले की ओर बढ़ता गया। जो भी इन आठ आनों में मिलेगा, खा लूंगा- यह सोचता वह खुली-अधखुली दुकानों को तलाशने लगा।

गली के नुककड़ पर तीन-चार आदमियों को देख, एक-दो चवन्नी की आशा में उसने अपनी हथेली फैलाते हुए कहा- "भगवान के नाम पर चार आने दो, तीन दिन का भूखा हूँ मैं।"

चारों ने इधर-उधर देखा। एक सन्नाटा-सा था। एक ने कहा- "भगवान का नाम लेता है। हिंदू है, मारो साले को।"

"नहीं-नहीं, मैं हिंदू नहीं हूँ। मुझे मत मारो।"

"हिंदू नहीं है? तो फिर मुसलमान होकर भगवान का नाम लेता है! काफिर है ये! मारो साले को!" सब एक साथ चिल्लाए।

"नहीं-नहीं, मैं मुसलमान नहीं हूँ। मुझे मत मारो।"

"तो फिर तू कौन है? तेरा मजहब क्या है?"

"मैं तो एक भिखारी हूँ, बाबा! मेरा क्या मजहब? किसी ने भगवान के नाम पर चार आने दिए तो हिंदू हो जाता हूँ और किसी ने अल्लाह के नाम पर चार आने दिए, तो मुसलमान हो जाता हूँ।"

मारने वालों के हाथ हवा में ही ठहर गए। शायद इसलिए कि वे समझ नहीं पाए कि यह हिंदू है या मुसलमान; या फिर इसलिए कि जिस मजहब के नाम पर वे इतना खून-खराबा कर रहे हैं, उसकी कीमत सिर्फ चार आने है। □

इसके बाद द्विवेदी जी कुछ स्वस्थ हो गए थे और लगभग पौने चार वर्ष तक सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते रहे।

1938 में शिमला में एक कवि सम्मेलन आयोजित किया गया था। पं. जगमोहन अवस्थी ने उसमें भाग लिया था और उनकी तुरंत रचित कविताओं को उस सम्मेलन में काफी पसंद किया गया था।

उनकी सफलता की बात पढ़कर द्विवेदी जी प्रफुल्लित हो उठे थे और उन्होंने तुरंत पत्र लिखकर बधाई दी थी।

उस पत्र में द्विवेदी जी ने उन्हें 'महाकवि' कहकर संबोधित किया था। अवस्थी जी अपने आप को बहुत बड़ा कवि नहीं मानते थे, इसलिए उनको द्विवेदी जी का उन्हें 'महाकवि' कहना अनुचित-सा लगा। उन्होंने पत्र लिखकर द्विवेदी जी से अपना रोष प्रकट किया।

साहित्य महारथी द्विवेदी जी ने स्थिति को पूरी तरह समझा और अवस्थी जी को उनकी भूल तथा उन्हें अपने इस कार्य ('महाकवि' लिखने के) के औचित्य को समझाते हुए एक शिवांप्रद पत्र लिखा। पूरा पत्र इस प्रकार था :

दौलतपुर (रायबरेली)

1.10.38

शुभाशिषः संतु,

बात का बतंगड़ बनाना खूब जानते हैं आप। शिमले का हाल पढ़कर ही मैंने अपने विचार दो शब्दों में प्रकट किए थे। दिए हुए विषयों या समस्याओं पर जो तत्काल धाराप्रवाह कविता सुनाए, वह यदि 'महाकवि' नहीं तो क्या बरसों कलम घिस-घिसकर पोथे लिखने वाले ही महाकवि हैं? भगवान आपकी यशोवृद्धि दिन पर दिन करता रहे।

शुभैषी

म.प्र. द्विवेदी

उनका यह पत्र उनका अवस्थी जी को लिखे गए अंतिम पत्रों में से था। सन् 1938 के समाप्त होते-होते द्विवेदी जी इस नश्वर शरीर को त्यागकर परमात्मा में विलीन हो गए।

द्विवेदी जी अब इस दुनिया में नहीं हैं, लेकिन उनके ये पत्र आज भी उनकी महानता, विद्वता व विनम्र प्रकृति की याद तराताजा करते रहते हैं। □

पराई धरती की कारा और एक हिंदुस्तानी नानी के दर्द की दास्तान

प्रकाश मनु

द्रोणवीर कोहली हिंदी के वरिष्ठ और सम्मानित उपन्यासकार हैं- ऐसे उपन्यासकार, जो कि हर बार किसी नई जमीन पर उपन्यास लिखते हैं और जिस कथा परिदृश्य को उठाते हैं, उसके बारे में पूरी जानकारी हासिल करके तथा पूरी तरह डूबकर लिखते हैं। वह अनुभवों की प्रामाणिकता के उपन्यासकार हैं। उनके बारे में जब भी सोचें, हमेशा एक खरे लेखक की तस्वीर आंख के आगे बनती नजर आती है।

शायद इसीलिए द्रोणवीर कोहली के उपन्यासकार की सबसे बड़ी खासियत बताने के लिए कहा जाए, तो मुझे एक क्षण भी नहीं लगेगा। यह निस्संदेह उनकी विश्वसनीयता है, जिसके कारण उनके उपन्यास हमें अपने आस-पास की दुनिया और खुद अपने भीतर के विचार-संसार या सोच में हस्तक्षेप करते लगते हैं। कुछ अरसा पहले छपे नए उपन्यास *वाह कैप* की खासी चर्चा हुई थी। विभाजन के काले दिनों पर लिखा गया यह एक करुण, लेकिन साथ ही दस्तावेजी उपन्यास है, जिसकी तुलना *झूठा सच* और *तमस* जैसे सदी के बड़े और कालजयी उपन्यासों से की जा सकती है। यह *झूठा सच* और *तमस* जैसे बड़े उपन्यासों की परंपरा को आगे बढ़ाने वाली एक महत्वपूर्ण कड़ी है और इसकी विशिष्टता इस बात में है कि यह उपन्यास एक किशोर की आंखों से देखे गए महाभारत की शक्ल में उस जमाने का सच्चा चिट्ठा हमारी आंख के आगे रख देता है। हालांकि द्रोणवीर कोहली के उपन्यासकार का 'विजन' इतना बड़ा और साफ है। जब वह इन कारुणिक प्रसंगों को लिख रहे होते हैं, तो इतिहास के लहू-सने पृष्ठ तो सामने आते हैं, मगर वे नफरत नहीं, एक बड़ी त्रासदी की करुणा और कसक ही उभारते हैं।

वाह कैप के बाद द्रोणवीर कोहली का हाल ही में छपा उपन्यास *नानी* एकदम अलग भिजाज का उपन्यास है। और दो भिन्न संस्कृतियों, बल्कि दो ध्रुवों के टकराव और झंझावात के बीच आ 'फंसे' जिस 'काल फलक' पर उन्होंने इस उपन्यास की रचना की है, जाहिर है, वह गहरी उत्सुकता तो मन में जगाता ही है। मोटे शब्दों में *नानी* उपन्यास एक हिंदुस्तानी नानी की कहानी है जो पराई दुनिया में जाकर उसकी भूल-भुलैया में ऐसी फंसी है कि अक्सर चक्कर पर चक्कर खाती और वहां छोटे-बड़े सुख-दुखों की कारा में कई बार तो बेतरह वेदना और पीड़ा से कराहती नजर आती है। हालांकि अमरीका की बेशुमार पैसे

और समृद्धि से लदी-फदी इस चमकदार दुनिया के तिलिस्म में वह गई खुद की।

कहा जा सकता है कि *नानी* यानी सरस्वती के ईर्द-गिर्द मोह और ममता के जो कोमल तंतु हैं, वे ही जाने-अनजाने इसे वहां ले जाने के लिए बाध्य करते हैं। शुरू-शुरू में एक नई दुनिया में पांव रखने का सुख और रोमांच भी है। फिर अमरीका के साथ भूमंडलीकरण की जोर-शोर की आंधी और जिस तरह का महिमा वर्णन और गौरवान्वित जुड़ गई है, उससे अमरीका जाना शुरू-शुरू में सरस्वती को शायद कुछ-कुछ 'सपनीला' भी लगा हो- किसी सपने के पूरे होने जैसा अनुभव। भारत जैसे गरीब देश की आंख से अमरीका शायद ऐसा ही लगता है।

लेकिन नानी को अमरीका ले जाने वाली मुख्य बात यह नहीं थी। मुख्य बात यह थी कि बेटी चेतना और दामाद श्याम रतन वहां थे और एक छोटी-सी दोहती तुला वहां थी, जिसकी शराबें किसी को भी मुग्ध करने के लिए काफी हैं। और इससे भी बढ़कर तो यह कि बेटी और दामाद- जो दोनों ही अमरीका में डाक्टर हैं- के दंपत्य जीवन में यह एक नए आने वाले मेहमान की तैयारी का समय है। कुछ दिनों बाद शिशु जन्म लेता है पर उसका पालन कौन करे? अमरीका में पैसे और समृद्धि की आंधी दौड़ चाहे जितनी हो, लेकिन यह समय किसी भी दंपति के लिए सबसे अधिक नाजुक है। ज्यादातर तो पति-पत्नी दोनों ही वहां काम पर जाते हैं। इसलिए प्रसव के कुछ ही समय बाद अबोध शिशु को 'नैनी' या परिचारिका के भरोसे छोड़कर जाना होता है। ऐसे ही समय वहां बसे भारतीयों को अपने देश और जड़ों की याद आती है और भारतीय जीवन की सहजता और ममता भी।

...तो ममता के वे कोमल और बारीक डोरे ही थे, जो नानी यानी सरस्वती को चुपके से बांधकर हजारों मील दूर एक पराई जमीन पर ले आए। वह आ तो गई, लेकिन जीवन भर साथ रहे अपने भारतीय संस्कारों और जीवन शैली का क्या करे? रातोंरात भला कैसे बदल जाए वह! और उस सबको कैसे स्वीकार कर ले, जो उसके सहज जीवन प्रवाह का हिस्सा कभी था ही नहीं! लिहाजा नानी अलग जमीन ही नहीं, बल्कि एक अलग तरह की संस्कृति और बेगानेपन की कारा में अनचाहे ही जा पड़ती है, जहां वह चाहे लाख छटपटाती, दुखी और अपमानित होती रहती हो, लेकिन एक निश्चित अवधि से पहले छूट नहीं पाती। उसका हर दिन कारा में एक और दिन काटने की तरह है।

तुला को संभालने के साथ-साथ नवागत शिशु ऋषि को संभालना, दोनों

भाषा : द्रोणवीर कोहली, सिल्लानगर प्रकाशन, अंनमदी रोड, दरियाबाज, नई दिल्ली.
पृष्ठ संख्या : 388; मूल्य : 300 रुपये।

को नहलाना-धुलाना, सफाई, दिन में कई-कई बार डायपर बदलने का काम, फिर उन्हें दूध पिलाना, हारी बीमारी की चिंता करना और ऊपर से तुला की अटपटी जिंदगी- इस सबमें कई बार सरस्वती निहाल हो जाती है। उसके बड़े शरीर में अब भला इतनी जान भी कहाँ! ऊपर से जब-तब दामाद की झिड़कियाँ और तीखे कटाक्ष सुनने को मिलते हैं- यहाँ तक कि बेटी भी पति की ही भाषा बोलने लगती है। और सरस्वती को यह समझ में नहीं आता कि वह यहाँ आई किसलिए थी!

लेकिन मोह-ममता का बंधन ऐसा है कि चाहे कितनी ही परेशानियाँ हों, लेकिन जब तक ऋषि कुछ बड़ा न हो जाए, अपना फर्ज अधूरा छोड़कर और बेटी की परेशानियों से छूटकर भला वह कैसे भारत लौट जाए? यह दीगर बात है कि रोज-रोज ये सारे फर्ज पूरे करते हुए भी वह एक-एक दिन गिनती है कि कब वह इस जेलखाने से छूटेगी, जहाँ वह अपनी सहजता ही खो बैठी है। उसका मन बुझ गया है और बेटी और दामाद की झिड़कियाँ खा-खाकर वह इस घर में नानी कम, 'नैनी' या परिचारिका अधिक बनकर रह गई है।

बार-बार छुटकारा पाने की चाह के बावजूद सरस्वती उपन्यास के अंत में ही इस कैदखाने से छूट पाती है। छूटते वक़्त फिर से भारत लौटते हुए उसकी जो मनःस्थिति थी, उसका वर्णन तो मुश्किल, बहुत मुश्किल है। बस, उसकी कुछ करुण उक्तियाँ और आहों से ही उसका अंदाजा लगाया जा सकता है। वह बार-बार अपने पति दीनदयाल से कहती है कि 'मैं अब वह नहीं रही, मैं अब कुछ नहीं रही। मेरे भीतर बहुत-कुछ टूट गया है...' उसका बार-बार यह सोचना अकारण नहीं है कि 'मैं अब पहले जैसी कभी न हो पाऊँगी।'

यह भारतीय संस्कृति की सहज गरिमा में बड़ी हुई एक भारतीय स्त्री का पराई धरती पर जाकर अपनी ही बेटी और दामाद के घर में बार-बार टोके जाने और फटकारें खा-खाकर श्रीहीन हो जाना है। इसीलिए पति दीनदयाल जब मजाक में पूछते हैं कि क्या वह दुबारा यहाँ आना पसंद करेगी, तो सरस्वती जैसे कानों को हाथ लगाकर अकुलाकर कहती है- "यह पन्ना ही फाड़ दो..."

देखा जाए तो नानी एक कथाहीन उपन्यास है, जिसमें अगर कोई कहानी है, तो वह महज यह कि अपने फर्ज या कर्तव्य के पाश में फंसी हुई नानी कितना कुछ सहती है। मगर फिर भी कठोर होकर एक बार भी वह ममता के इन कच्चे धागों को तोड़ता नहीं। यह नानी यानी सरस्वती की हिंदुस्तानियत या भारतीयता है। इतना सहना कि वह तप लगे, कोई हिंदुस्तानी स्त्री ही कर सकती है, पश्चिमी जीवन-शैली और संस्कारों वाली स्त्री नहीं।

लेकिन इस फर्ज को पूरा करने के पीछे सरस्वती जैसी एक प्रबुद्ध संस्कारशील और सम्मानित स्त्री ने कितना कुछ खोया- कोई साढ़े तीन सौ पन्नों में फैला नानी उपन्यास कुल मिलाकर इसी का एक विस्तृत व्यौरा पेश करता लगता है। इसे पढ़कर अच्छी तरह समझ में आ जाता है कि उग्र, बुजुर्गियत या रिश्तों का जो सम्मान यहाँ अब भी बाकी है, वैसा पश्चिमी देशों में नहीं है।

इसीलिए सरस्वती ने एक छोटी बच्ची की तरह अपनी ही बेटी और दामाद से कितनी 'सीख' ली और 'पाठ ठीक से याद न होने की सजा' के एवज में कितने तीखे कटाक्ष, व्यंग्यपूर्ण उलाहने और झिड़कियाँ खाई, उनका वर्णन मुश्किल है। उन्हें तो सिर्फ नानी उपन्यास पढ़कर ही जाना जा सकता है, क्योंकि 'हरि अनंत हरि कथा अनंता' की तरह यह तो ऐसा किस्सा है जो उपन्यास के पहले से आखिरी सफे तक फैला हुआ है और बार-बार शब्दों और पंक्तियों के बीच से खूटा तुड़ाकर बाहर आ जाता है।

नानी उपन्यास पढ़ते हुए बार-बार यह खटका लगता है कि तो अभी नानी के धैर्य का अंत हुआ और वह अब उबल पड़ेगी या वह अपनी ही जाई बेटी के अग्रिय और अशोभन शब्दों को लेकर उसे आड़े हाथों लेगी और इन सारे दुखों और यातनाओं पर पर्दा डालते हुए वापस भारत लौटने की जिद ठान लेगी। आखिर दामाद पर तो कोई बस न था चाहे वह कितना ही कड़वा बोले और अपमानपूर्ण फक्तियाँ कसे। लेकिन भला सरस्वती की यह कौन-सी मजबूरी थी कि वह अपनी ही बेटी के बुरे, अपमानपूर्ण व्यवहार और एक तरह की झिड़कियों को सहती रही!

सरस्वती न अनपढ़ थी और न गैर-समझदार और न आर्थिक रूप से बेटी पर आश्रित थी। वह उच्च शिक्षिता है, दिल्ली में एक ऊँचे पद पर काम कर चुकी है और उसका व्यक्तित्व कोई लुंज-पुंज नहीं, बल्कि खासा प्रभावशाली है। दूसरों को अपनी बातों और समझदारी से प्रभावित करना उसे आता है। उसमें गरिमा और 'ग्रेस' है। ऐसी स्त्री चाहे थोड़े समय के लिए ही सही, अपनी बेटी की चेरी बनकर क्यों रहे?

कर्तव्य कितना ही बड़ा भला क्यों न हो, लेकिन आत्मसम्मान खोकर वह अपनी ही बेटी की एक नौकरानी के स्तर पर ले आए, ऐसा कर्तव्य क्या बड़ा कहा जाएगा? फिर इसके पीछे मजबूरी भला क्या थी? नानी उपन्यास में इन सवालों का कोई ठंग का जवाब नहीं है।

लगता है, उपन्यासकार द्रोणवीर कोहली इन सवालों से उलझने के बजाए नानी की रोजमर्रा की एक ही विपदा कथा को बार-बार थोड़ा उलट-फेरकर कहने-सुनाने में ही ज्यादा रुचि और रस लेते हैं। भले ही पाठक के लिए यह चीज आगे चलकर घोर अरुचिकर, बल्कि 'रस भंग' का कारण भी बनती है।

यों नानी उपन्यास की स्थायी टेक तो तुला और ऋषि दोनों बच्चों के 'डायपर' बदलना- दिन में कई-कई बार डायपर बदलना और कभी उनकी 'पूपी' और कभी उनकी 'पीपी' (मल-मूत्र) साफ करना है। लेकिन गनीमत है कि नानी में सिर्फ यही नहीं है, बल्कि दोनों बच्चों को दूध पिलाने, खाने-पिलाने और उनकी जिंदगी से परेशान होते हुए भी, उन्हें जी भरकर बहलाने और किस्से-कहानियाँ सुनाने के प्रसंग भी आते हैं। ये काम छोटे-छोटे और महत्वहीन लग सकते हैं, लेकिन सरस्वती जैसी काफी चुस्त और सक्रिय स्त्री भी कभी-कभी तो इन्हें करते हुए और दोनों बच्चों को अलग-अलग संभालते हुए, इतनी शिथिल हो जाती है कि उनींदी होकर पड़ जाती है और बच्चे तब भी उसे परेशान करना नहीं छोड़ते।

यहाँ तक कि सरस्वती के पति दीनदयाल, जो पत्नी के आग्रह और चिट्ठी डालने पर खुद भी आकर इस कारा में पड़ गए, कभी-कभी पत्नी की यह हालत और लाचारी देखकर बेहद द्रवित हो उठते हैं। उसकी मदद चाहे अधिक न कर पाते हों, लेकिन सरस्वती के दुखों को सुन-सुनकर और थोड़ा धीरज बंधाते हुए वे उसके मन के बोझ को थोड़ा हल्का जरूर कर देते हैं।

फिर दीनदयाल और सरस्वती दोनों में एक स्वाभाविक बड़प्पन और अंतरचेतना है। वे यह भी समझते हैं कि बेटी और दामाद को लगातार लंबी ड्यूटी में व्यस्त रहना पड़ता है इसलिए न चाहते हुए भी एक चिड़चिड़ापन उनमें आ गया है। वे बेटी और दामाद की इस व्यस्तता को भी सहानुभूतिपूर्वक देखते हैं तो यह चिड़चिड़ापन उन्हें उतना नहीं अखरता और परिवार में कोई भी अग्रिय घटना घट जाने पर वे हर बार खुद को ही समझाकर, पटाक्षेप करना पसंद करते हैं। लेकिन कहना न होगा कि दामाद से वे दोनों डरते हैं। इस बुरी तरह, जैसे वह कोई भेड़िया हो जो उन्हें खा जाएगा। और उसके तीखे कटु बच्चों से हमेशा

मर्महत नजर आते हैं। वे जितना-जितना दामाद का चेहरा और रुचि देखकर बात करने की कोशिश करते हैं, उतनी ही अधिक झिड़कियां खाते हैं और अवाक रह जाते हैं।

जाहिर है, ऋषि और तुला की छोटी-छोटी शरारतें और खिलड़ापन न होता, जो उपन्यास के काफी बड़े हिस्से में फैला हुआ है- तो यह 'मीठी कारा', मीठी तो होती ही नहीं, बल्कि एक जलते हुए जंगल की तरह उन्हें बस रात-दिन तपाती और बेधती ही रहती।

सच तो यह है कि यह असल में दो जमीनों और दो भिन्न संस्कृतियों का अंतर और टकराव है, जिसने इस कारा को जन्म दिया है, जिसमें दीनदयाल और सरस्वती अनजाने ही आ पड़े हैं।

नानी पढ़कर समझ में आता है कि पश्चिमी देशों में भौतिकता पैसे और समृद्धि की आंधी ने जैसे बहुत कुछ को चौपट कर दिया है। आदमी का भीतरी रस सूख गया है और जीवन मशीनी हो गया है। आदमी का बोलना-चालना, हंसना, खाना-पीना, सब इस कदर मशीनी हो गया है, मानो ये सारे काम सिर्फ मशीन को चलाए रखने के लिए किए जा रहे हों। वरना जीवन में कोई 'उच्छल उमंग' नहीं बची।

यहां तक कि साहित्य भी वहां एक 'फटफटिया व्यापार' है और खाली सनसनीखेज किताबों के बारे में ही लोग जानते और पढ़ते हैं। गंभीर साहित्य की न किसी को जानकारी है न ललक। यहां तक कि उस तेज भाग-दौड़ की जिंदगी में खुद किताब ही एक बेमानी चीज है और सामान बेचने आई सेल्स गर्ल्स दीनदयाल जी के मुंह से 'किताब' का नाम सुनते ही ऐसे चौंकती हैं, जैसे उनसे चिड़िया का दूध मांग लिया हो।

पश्चिम में मशीनें ही प्रमुख नहीं हैं, बल्कि नित्य-प्रति का जीवन और घर भी मशीनी है। उसे ठंडा या गरम रखना, सफाई और खाना पकाना, कपड़े धोना, सब कुछ मशीनों से होता है। इसीलिए वहां मशीन जितनी सहज है, भारतीय संस्कृति में ढली, झिड़कती हुई सरस्वती के लिए वह उतनी सहज नहीं हो सकती।

शायद यही वजह है कि कपड़े धोने वाली मशीन के काम करने के ढंग के बारे में पूछने पर सरस्वती को न सिर्फ अपने दामाद की व्ययोजित सुनी पड़ी, बल्कि साथ ही यह भी सुनना पड़ा कि 'आप अंधी हैं।' एक ऐसा मर्महत कर देने वाला वाक्य, जिसका दंश सरस्वती के भीतर से महीनों नहीं निकला और वह बार-बार उसे याद करके रोती रहती है।

नानी में ऐसी कई घटनाएं और दृश्य हैं, जो इस बात को समझा जाते हैं कि एक धनी और आत्मवृत्त देश का नरक क्या हो सकता है। यह ठीक है कि वहां पैसा लगभग बरस रहा है, हर कोई व्यस्तता की अंधी दौड़ में है। लेकिन उतना ही यह भी ठीक है कि किसी को रुककर सोचने की फुरसत नहीं है और कहीं चैन नहीं है। लोग एक नपी-तुली जिंदगी के नपे-तुले सुख के इस कदर आदी होते जा रहे हैं कि जीवन का भीतरी उत्साह और स्फूर्ति गायब हो गई है। अगर धन की कमी एक तरह से तबाह करती है तो धन की अंधाधुंध बारिश दूसरी तरह से।

चेतना और श्याम रतन के एक नीरस और बेस्वाद दांपत्य जीवन को इसी संदर्भ में समझा जा सकता है। वे हर वक्त थके और चिड़चिड़े-से नजर आते

हैं और उनके लिए खुरी कोई बाहरी चीज है, जिसे वे शॉपिंग आदि के जरिए पा लेना चाहते हैं। मगर काश वे जान पाते कि खुरी कोई ऐसी चीज नहीं है जो पैसे से खरीदी जा सके।

उसके लिए मन का मुक्त बहना जरूरी होता है। जबकि चेतना और श्याम रतन का जीवन इतना बंधा हुआ है कि वहां उनकी आदत या नपे-तुले ढंग से अलग कहा गया कोई एक छोटा-सा वाक्य, कोई एक छोटी-सी टिप्पणी या कोई हल्का-सा मजाक भी उन्हें खामखा खीझ और रोष से भर देता है। और बार-बार उनके मुंह पर यही शब्द आते हैं कि इस बात को कहने की क्या जरूरत थी।

बार-बार वे सरस्वती से यही ताकीद करते हैं कि वह अजनबियों से न मिले, न बातें करे क्योंकि अजनबियों से बात करना और बगैर जरूरत बात करना यहां असभ्यता है। यहां तक कि किसी मेहमान के आने पर उससे चाय या खाने-पीने के लिए पूछ लेना भी असभ्यता है।

सरस्वती समझ नहीं पाती कि यह कैसी सभ्यता है जिसमें जीवन के सभी सहज कार्य-व्यापार खारिज हैं। इस माहौल में अगर सरस्वती और दीनदयाल जी लगातार घुटन महसूस कर रहे हैं तो यह बेसबब नहीं।

दामाद श्याम रतन की कटूकृतियां और बात, बिना बात हिंदुस्तान को लेकर की गई अशालीन और कठोर टिप्पणियां इस नरक को लगातार खोलती रहती हैं। इससे सरस्वती और दीनदयाल जी की कभी-कभी तो यह हालत होती है कि वे बच्चों की तरह डरे-सहमे से नजर आते हैं। फुसफुसाकर एक-दूसरे से अपने मन की बात कहते हैं और कभी-कभी तो अकेले में अपने साथ किए गए अपमानजनक व्यवहार को याद करके रो लेते हैं।

दीनदयाल और सरस्वती दोनों उच्च शिक्षित हैं और दीनदयाल तो हिंदुस्तान में एक बड़े अधिकारी रहे हैं। फिर अमरीका की सभ्यता की यह कौन-सी सदाशयता है जो इनकी गरिमा को चूस जाती है।

यही बात साबित करने के लिए काफी है कि एक बड़े, धनी देश की सभ्यता में हिंसा अनिवार्य रूप से समा चुकी है। यह दीगर बात है कि वह कितनी प्रकट, कितनी अप्रकट है।

लेकिन नानी उपन्यास की सबसे बड़ी दुर्बलता इसका 'रूटीन' होना- या रूटीन चीजों में हृद से अधिक लिप्त होना है। मानो एक ही दिनचर्या को, जिसमें बच्चों के डायपर बदलने, मल-मूत्र साफ करने, नहलाने और खिलाने-पिलाने की क्रियाएं शामिल हैं- उपन्यास में दर्जनों बार थोड़े फेर-फार के साथ दोहराया गया है। कुछ इतने मनोयोग और अविरल उत्साह के साथ दोहराया गया है। वर्णन पर वर्णन- और फिर-फिर उसी अंदाज में वर्णन- किए चले जाते हैं कि उनके इस अथक उत्साह पर हमें सिर्फ हैरानी ही हो सकती है।

कोई उपन्यास आखिर कुछ दिनों की 'नित्य क्रियाओं' का वर्णन ही तो नहीं होता। यह ठीक है कि बच्चों की शरारतें, छेड़छाड़ और कुछ भोली बातें भी बीच-बीच में आती हैं, मगर वे कम ही इस जड़ता को तोड़ पाती हैं। और लगता है, यह उपन्यास यह बताने के लिए ज्यादा लिखा गया है कि अमरीका में बच्चों के 'डायपर' कैसे बदलते हैं और वहां के खास तरह के वातानुकूलित घरों में खाने-पीने और नहाने-धोने की क्रियाएं कैसी होती हैं।

जाहिर है, सिर्फ इन्हीं चीजों का वर्णन करना हो, तो यह एक कहानी या

फिर हृद से हृद सौ-सवा सौ पन्ने के एक छोटे उपन्यास में भी आ सकता था और कहीं ज्यादा अच्छे ढंग से आ सकता था। लेकिन दंपत्य जीवन की एक रूटीन दिनचर्या को इतना लंबा खींचने और खींचते ही चले जाने की वजह क्या थी?

अगर यह माना जाए कि *नानी* उपन्यास भारतीय और अमरीकी जीवन-पद्धतियों के अंतर या दो अलग मिजाज के देशों की जीवन-शैली और संस्कृतियों के टकराव को लेकर लिखा गया है, तो इस सिलसिले में कुछ बहुत छोटे-छोटे प्रसंगों (और अखबारी खबरों की कतरनों) के सिवा हमें कुछ और नहीं मिलता, जो इस उपन्यास में बेतरतीब ढंग से फैले हुए हैं और इन्हें किसी सुविन्यस्त कथा में ढालने में द्रोणवीर कोहली ने कोई रुचि नहीं दिखाई।

और फिर *नानी* उपन्यास में सिर्फ एकरस घटनाओं का उकता देने वाला दोहराव ही नहीं है, इससे भी बड़ी बात यह है कि उपन्यास के करीब-करीब सभी पात्र 'स्थिर' प्रकृति के हैं, जिनका किसी तरह का कोई विकास होता इस उपन्यास में नहीं दिखाई देता। न घटनाओं का विन्यास ही ऐसा है कि वे किसी ऐसे नाटकीय चरम तक ले जाएं, जिससे पात्रों और चरित्रों के भीतर का कोई नया रूप या अंतश्चेतना उभरकर आए। यहां तक कि उपन्यास के पात्र पूरी तरह खुलते ही नहीं हैं और उनके रोजमर्रा के दैनिक क्रिया-कलापों के अलावा उनके बाकी व्यक्तित्व पर जो परदा पड़ा हुआ है, उपन्यासकार ने उसे हटाकर उनके मन और चेतना की भीतरी तहों तक पैठने में कोई रुचि नहीं दिखाई। नहीं तो भला यह कैसे हो सकता था कि चेतना जो अपने पति द्वारा लगातार अपने माता-पिता को अपमानित होते देखती है, वह पति के शहर जाने के बाद अपने माता-पिता से सहानुभूति के दो शब्द भी नहीं कहती। आखिर तो वे किसी स्वार्थ से नहीं, बल्कि अपनी बेटी की मदद करने के लिए ही अमरीका आए थे।

मैं समझता हूँ, चेतना के चरित्र की इस भीतरी कशमकश और अंतश्चेतना को द्रोणवीर ठीक से उजागर कर पाते, तो यह एक ढंग का उपन्यास हो सकता था। तब कम-से-कम इसकी तर्कणा या तर्कभूमि अधिक सुविन्यस्त होती! लेकिन न जाने क्यों 'रूटीन' चीजों की चर्चा में उन्हें इतना आनंद आया है कि न उन्हें कुछ और दिखाई दिया और न किसी अन्य चीज में उनकी दिलचस्पी दिखाई पड़ती है। अमरीकियों के जीवन-व्यवहार को लेकर दो-चार छोटे-मोटे प्रसंग हैं भी, तो वे कोई विरोध असर नहीं छोड़ते।

मुझे याद पड़ता है, लोकयात्री देवेंद्र सत्याधी ने मुझे एक बार शरतचंद्र का किस्सा सुनाया था। शरत बाबू ने अपने एक मित्र की रचना पर टिप्पणी करते हुए उन्हें पत्र लिखा था कि तुम लिखना तो जानते हो, न लिखना नहीं जानते! मैं समझता हूँ, द्रोणवीर कोहली *नानी* उपन्यास पर टिप्पणी के लिए भी इससे अच्छे शब्द मिलना मुश्किल है। क्योंकि कुल मिलाकर तो *नानी* एक दिलचस्प और विचारोत्तेजक विषय पर लिखा गया इतना जड़, नीरस और निरानंद उपन्यास है कि मुझे इसे पढ़ते समय और बाद में भी बार-बार ताज्जुब होता रहा कि क्या सचमुच यह वही द्रोणवीर कोहली है जिनका इतना अधिक गतिशील, प्रभावशाली और जिंदगी से लबालब उपन्यास *वाह कैंप* मैंने पढ़ा था और इस कदर पसंद किया था कि उसकी छाप आज तक मन से नहीं गई।

...अफसोस *नानी* द्रोणवीर कोहली की एक बड़ी असफलता है— एक अच्छे विषय पर लिखा गया घोर नीरस और ठस उपन्यास! हाँ, अगर किसी की यह जानने (या गिनने) में दिलचस्पी हो कि इस दुनिया के एक महादेश में किसी बच्चे के 'डायपर' कब-कब और दिन, महीने, साल में कितनी दफे बदल जाते हैं, तो हो सकता है, *नानी* उसे एक 'पठनीय' और दिलचस्प उपन्यास लगे। □

भारत में पत्रकारिता...

पृष्ठ 11 से आगे

बहुत कुछ कारण वे ही संपादक थे, जिनसे धनी घृणा करते थे, शासक क्रुद्ध रहा करते थे और हमारे जैसे ही, एक पैर जेल में रखकर धर्मबुद्धि से पत्र संपादन किया करते थे। उनके परिश्रम और कष्ट से पत्रों की उन्नति हुई। पर उनके वंश का लोप हो गया। अब संचालक और व्यवस्थापक सर्वोत्तरा हैं, संपादक कुछ नहीं हैं। इस इतिहास से हमें उपदेश ग्रहण करना चाहिए। समय रहते सावधान हो जाना चाहिए और उस अवसर का ऐसा सदुपयोग करना चाहिए कि भावी पीढ़ियाँ प्रेम के साथ हमारा स्मरण करें।' (*संपादक पराङ्कट*— संपादक : लक्ष्मीशंकर व्यास, 1977, पृष्ठ 120-121)।

साप्ताहिक *धर्मयुग* के यशस्वी संपादक और हिंदी के ख्यातनामा साहित्यकार धर्मवीर भारती ने 15 अप्रैल, 1989 को लेखक को भेजे एक पत्र में भविष्य की हिंदी पत्रकारिता के संबंध में अपनी चिंता इन शब्दों में व्यक्त की है— '...स्थितियाँ पिछले दस वर्षों में ऐसी बिगड़ी हैं कि हिंदी पत्रकारिता को जान-बूझकर अंग्रेजी पत्रकारिता के जूतों तले दबाया जा रहा है। और दुख यह है कि हिंदी का पत्रकार उसके खिलाफ आवाज भी बुलंद नहीं कर रहा। मैं जब तक वश में था, लड़ता

रहा। लेकिन अब वह लड़ाई अन्य लोगों को उठानी होगी। हिंदी की पत्रिकाओं में संपादक गौण हो गया। हिंदी का क ख ग न जानने वाले तथाकथित प्रकाशक प्रमुख हो गए। हिंदी पत्रिकाओं के मौलिक हिंदी नाम बदलकर अंग्रेजी नाम लाद दिए गए। उन्हें अनचाहे अंग्रेजी सामग्री का अनुवाद छापने को लाचार किया गया। हिंदी के सक्षम पत्रकारों को भी अंग्रेजी के अक्षम पत्रकारों के सक्षम हेय स्थिति में रहना पड़ रहा है। यह कब तक सहेंगे आप, हम, सब लोग!'

जेराल क्लिन ने भी 1985 में आम पाठक या जनता की भाषा की चिंता को रेखांकित करते हुए लिखा था : 'जनसंचार क्रांति अभी शक्तिशाली और ताकतवर देशों तक ही सीमित है, आम जनता तक इसका पहुँचना बाकी है।'

ये तथ्य भारत या तीसरी दुनिया के किसी देश के मीडिया विशेषज्ञ ने नहीं, पश्चिमी विद्वानों ने रेखांकित किए हैं, लेकिन केवल उन्होंने जो यथार्थपरक चिंतन में सक्षम हैं।

प्रश्न यह है कि क्या हम वर्तमान परिदृश्य के कारण निराशा के सागर में गोते लगाने लगे और आधुनिकतम तकनीक तथा साधनों से आंखें मूंद लें अथवा विज्ञान की नई से नई देन का लाभ लेते हुए न्यायपूर्ण विश्व-व्यवस्था के लिए संघर्ष करें। यह संघर्ष निस्संदेह दीर्घकालिक होगा और इसके लिए कमर कसकर तैयार रहना होगा। □

एक भारतीय लेखक का मूल्यांकन

अमृतलाल नागर : व्यक्तित्व और रचना संसार : मधुरेश; राजपाल एंड संस; कश्मीरी गेट, दिल्ली; पृष्ठ संख्या : 175; मूल्य : 150 रुपये।

पुस्तक का नाम है- *अमृतलाल नागर : व्यक्तित्व और रचना संसार*। नाम से यह भ्रम होना स्वाभाविक है कि यह हिंदी में प्रचलित 'डाक्टरेट' की डिग्री लेने के लिए कोई थीसिस, जिसे सहज शब्दों में कहें तो शोध-प्रबंध है। मगर ऐसा नहीं है। यह तो नागर जी के माध्यम से 'एक युग के हिंदी लेखन' को जानने-समझने का प्रयास है। पुस्तक के लेखक मधुरेश ने नागर जी से निकटता पाई और उसका लाभ लेते हुए, नागर जी की कलम के विविध पक्षों पर अपने ढंग से, कहा जाए, अत्यंत रोचक शैली अपनाकर जो समालोचना प्रस्तुत की, एक सौ बहतर पृष्ठों में, उसी का रूप है *नागर की काव्य व्यक्तित्व और रचना संसार*।

इस पुस्तक की प्रथम खूबी यह है कि लेखक ने अपनी बौद्धिकता को जबरन पाठकों पर थोपने का प्रयास नहीं किया। 'आलोचना' शब्द को अगर छोड़ भी दिया जाए, क्योंकि पिछले साठ सालों में इस शब्द अर्थात् आलोचना के माध्यम से कितनी ही कृतियों को पढ़ने से वंचित कर दिया गया, यानी साधारण पाठक तो दूर, प्रबुद्ध पाठकों से भी रचना को दूर कर दिया गया, ऐसे में 'समालोचना' या 'समीक्षा' के रूप में मधुरेश ने अपनी कलम से नागर जी को एक बार पुनः ऐसे पठनीय रूप में सामने ला दिया है कि बीसवीं शताब्दी का हिंदी लेखन बड़ा दिखाई देने लगा है।

चौदह उपन्यास, चौदह कहानी संग्रह, छह में संयोजित संस्मरण, रिपोर्टज, जीवनी और निबंध और छह संकलनों में ही हास्य व्यंग्य की रचनाएं प्रकाशित हैं। इतना विस्तृत नागर जी का लेखन! इसमें से अधिकांश पर मधुरेश ने समालोचना लिखी, समीक्षा लिखी, अब उसे इस पुस्तक में समेटकर हिंदी के एक बड़े लेखक के रचना संसार को एकरूपता दी। मानना होगा कि यह परिश्रम का काम है, और वर्षों की आस्था, विश्वास इसके पीछे से उभरता है। इस पुस्तक को पढ़कर पुनः नागर जी के संपूर्ण लेखन

को पढ़ने की इच्छा मन में जागती है तो यह मधुरेश की बहुत बड़ी सफलता है।

दिल्ली में रहने वाले महान लोगों की बात नहीं की जा सकती, इसमें खतरा है। लेकिन मैं अपनी बात तो कह सकता हूँ। 1956 में जब उपन्यास *बूंद और समुद्र* प्रकाशित हुआ था तो मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय में एम.ए. का विद्यार्थी था। इस उपन्यास को लेकर जैसा शोर उठा, जैसी चर्चा सामने आई, उसने मन को नई हलचल दी। परिणाम, जैसे-तैसे *बूंद और समुद्र* को प्राप्त किया और सब काम छोड़कर पूरा पढ़ डाला। आज भी, महिपाल व उपन्यास के दूसरे पात्रों के चेहरे आंखों के आगे आ जाते हैं। स्त्री-पुरुष के संबंधों की बात तो आज भी की जाती है, पर क्या नागर जी की तरह पारखी दृष्टि से ऐसा संभव हो पाता है? पृष्ठ 63 पर मधुरेश लिखते हैं- 'विहरेश प्रसंग में बड़ी की दुर्दशा का वर्णन सुनकर सबसे अधिक व्यथित वनकन्या ही होती है। तारा ने भी वनकन्या की तरह प्रेम विवाह किया है और वह खुश है।'... 'वे गीत, जैसे समाज में आने वाले नए समाज में, नए परिवर्तन की सुगन्धाहट देते हैं।'

नागर जी के लेखन में लखनऊ कई बार आया है। दोहराव से बचने के लिए उन्होंने दूसरे शहरों को भी अपने से जोड़ा। बंबई प्रवास ने नए अनुभव दिए। 'सच को कहने में उन्होंने संकोच नहीं किया।' और मधुरेश ने भी लेखक के सच को छिपाया नहीं, सामने लाने में ही सुख पाया, जैसे पृष्ठ 89 पर तुलसी के चरित्र में 'कामवेग' की एक महत्वपूर्ण भूमिका स्वीकार करते हैं नागर जी और इसी का समर्थन करते हैं मधुरेश।

कितना ही कुछ कहा जा सकता है नागर जी के लेखन पर। मधुरेश ने सारे सूत्रों को जोड़ने-बटोरने में कुशलता दिखाई, यह बड़ी बात है। आज जब सब कुछ दिल्ली में ही केंद्रित होता जा रहा है, दिल्ली में भी 'मंडी हाउस' के आस-पास, तब बदायूं जैसे एक

छोटे से कस्बे में रहकर मधुरेश ने अपने 'समालोचक-समीक्षक' को न केवल जिंदा रखा, वरन ऐसी कृतियों की रचना की जो तथाकथित हिंदी के आलोचकों के लिए चुनौती बनती हैं।

फिर भी यह पूछने का मन होता है कि भाई मधुरेश का डाक्टर रामविलास शर्मा के प्रति इतना पूर्वाग्रह क्यों बना रहा है। डा. शर्मा अपने विरोध और समर्थन को छिपाते नहीं थे। दिल्ली में सरकारों के बदलने से उनको लेना-देना नहीं रहा, जबकि बड़े कहे जाने वाले आलोचक ने 'हैं भी और नहीं भी हैं' की शैली अपना ली। यह रामविलास जी में ही सहस्र या कि 'साहित्य अकादमी में एक शाम भाषण के बाद जब उन्हें पहले से तैयार किए गए दिल्ली विश्वविद्यालय के छात्र द्वारा यह पूछे जाने पर- वह भी बहुत कटुता के साथ- कि आपने पंत और महादेवी पर क्यों नहीं लिखा, निराला पर ही क्यों लिखा? तो रामविलास जी ने हंसते हुए कहा कि 'निराला मुझसे कद में कई इंच ऊंचे थे।' जाहिर है कि उपस्थित सभी जन हंस पड़े और तैयार किए गए महाशय को झेंपकर बैठ जाना पड़ा। रामविलास जी ने गांधीजी पर खुली वार्ता की है, वह भी, दिल्ली की मुख्यमंत्री शीला दीक्षित से। और अपनी पुस्तक में तो उन्होंने, पीठ पीछे आक्षेप लगाने वालों को खुलकर चुनौती दी कि जहां चाहें, जब चाहें, जिस मंच पर चाहें, आकर बात कर लें। यह रामविलास जी का अति विश्वास नहीं, वरन सारे जीवन का अध्ययन, मनन, चिंतन ही है, साथ ही विद्या के प्रति उनका समर्पित भाव ही है, पैसे के प्रति नहीं, जो अपनी मान्यताओं पर उन्हें अडिग रखता है। (अपनी धरती, अपने लोग, दूसरा भाग)

'कहानीकार अमृतलाल नागर' अध्याय में, (पृष्ठ 125 पर) मधुरेश ने सही उल्लेख करते हुए फिराक साहब की टिप्पणी का उल्लेख करते हुए लिखा है- 'उनकी कहानियां हिंदुस्तान के मुतल्लिक ही नहीं हैं वह खुद हिंदुस्तान हैं।' मधुरेश ने आगे व्याख्या करते हुए ठीक कहा- 'सामाजिक ढांचे में परिवर्तन के लिए कहानी की भूमिका पर नए सिरे से विचार की पहल की।' (पृ. 125)

इसी के साथ मधुरेश लिखते हैं- 'अमृतलाल नागर ने कहानी को गंभीर तकाजों से जोड़ने की अपेक्षा उसके किस्सागोई वाले स्वरूप पर विशेष बल दिया और अपने समर्थन में उन्होंने स्वयं प्रेमचंद का उदाहरण प्रस्तुत किया- 'किस्सागोई के फन में सुनने वाले की रुचि का ख्याल बहुत किया जाता है। लेकिन यह रुचि केवल रईसों और नवाबों की रुचियां ही हुआ करती थीं, क्योंकि किस्से सुनाने की नौकरी

उन्हीं से मिलती थी। लेकिन मेरा मालिक आम पाठक था जिसमें अमीर भी थे और गरीब भी। इसलिए किस्सागोई की रुचि को मैंने जनरुचि और जनहित का हिस्सा बनाकर ही पेश करने की कोशिश की है।' (पृ. 125)

और अंत में मधुरेश का यह सूत्र वाक्य बहुत आकर्षित करता है- 'वह स्वाधीन रहने और रहने देने के पक्षधर लेखक है। लेकिन उनकी स्वाधीनता और बहुलतावाद की जड़ें समाज में गहरी जुड़ी हैं। वह साहित्य और रचना-कर्म की स्वायत्तता के टापू नहीं बनते, समाज की विशाल धरती में ही इनकी जड़ें रोपते हैं और छतनार वृक्षों के रूप में उनको विकसित होते देखने का अपार रचनात्मक धैर्य दिखाते हैं।' (पृष्ठ 172)

नागर जी ने विपुल साहित्य रचा। उनकी पुस्तकों के कई नाम बहुत लोकप्रिय हुए, लेकिन कुछ पुस्तकों के नाम इतने भारी पड़ गए कि जबान पर चढ़ते ही नहीं। एकदा नैमिषारण्य, अग्निगर्भ, नाच्यो बहुत गोपाल। इतना तो मानना ही होगा कि पुस्तक का नाम, विशेषकर उपन्यास का नाम, पुस्तक को लोकप्रियता देने में बहुत सहायक होता है। इस संबंध में उसी समय की एक घटना याद आती है। इलाचंद्र जोशी ने कलकत्ता को आधार बनाकर अपना नया

उपन्यास लिखा। लेकिन सही नाम न खोज पाने के कारण बहुत समय तक उपन्यास प्रकाशित नहीं हो पाया। एक बार विजयदेव नारायण साही ने इलाचंद्र जोशी जी से कहा- "कथानक का कुछ हिंट दीजिए, शायद हम ही कोई नाम बता दें।"

इस पर जोशी जी ने झुंझलाकर कहा- "अरे कथानक क्या है, वही कलकत्ते की जमीन, जो लाख छोड़ना चाहते हुए भी छूट नहीं पाती थी। घूम फिरकर उपन्यास का नायक वहीं, कलकत्ता आ जाता था क्या करे, कहाँ जाए?"

इस पर साही जी ने कहा, "इसका नाम रखिए, जहाज का पंछी?"

और जैसा कि सभी मानते हैं, इस नाम के कारण भी उपन्यास बहुत लोकप्रिय हुआ। उपन्यास तो श्रेष्ठ है ही, भले ही अपनी गिनती में कुछ इसे श्रेष्ठ मानें या न मानें।

समालोचक-समीक्षक मधुरेश से भविष्य में हिंदी की अन्य कृतियों पर इसी प्रकार परिश्रमपूर्ण मूल्यांकन की आशा है। यही शैली और यही भाषा हिंदी समालोचना को मान दिलाएगी- इस विश्वास के साथ इस कृति के लिए उन्हें बधाई।

—धर्मोद गुप्ता

जिससे वह अनौपचारिक जीवन अपनी इच्छा से जी सके। पारिवारिक समस्याएं तो साथ हैं ही। उनसे मुक्ति संभव नहीं, पर परवशता से उत्पन्न तकलीफों से वह मुक्त हैं। अब वह वहीं जाते हैं जहां जाना आवश्यक हो तथा अधिक तकलीफ दायक न हो। पढ़ना छूट जाने से अब सिर्फ पढ़ना और लिखना रह गया है जिसमें उनका मन रमता है। मिश्र जी का रुझान अब सर्जनात्मक लेखन की तरफ अधिक हो गया है। इससे अकेलापन या रिक्तता का बोध भी मिश्र जी को नहीं सताता। शायद इसी कारण उन्होंने पुस्तक का शीर्षक फुरसत के दिन रखा है।

आत्मकथा लेखन के लिए मिश्र जी डायरी को उपयोगी स्वीकारते हैं क्योंकि उसमें दैनंदिन घटनाएं-प्रसंग दर्ज रहते हैं जिनका समुचित उपयोग किया जा सकता है। इस पुस्तक में भी डायरी के साथ-साथ रिपोर्ट तथा यात्रा-वृत्तान्त की शैली का उपयोग किया गया है। कहीं-कहीं संवादों का प्रयोग उसे कथा के करीब ले आता है जिससे रोचकता तथा पठनीयता आई है।

फागुन मिश्र जी को प्रिय है। फागुन आते ही वह बचपन की स्मृतियों में खो जाते हैं। 'उसकी हवा में भरी एक विशेष प्रकार की गंध का बोध' उन्हें ताजा करता रहता है। लेखक को लगता है- 'प्राकृतिक और सामाजिक परिवेश के प्रति लगाव मेरे मन को बूढ़ा नहीं होने देता और मेरे कवि को निरंतर जिलाए हुए है।'

समय-समय पर की गई यात्राओं का वर्णन पुस्तक में हुआ है। मिश्र जी दक्षिण कोरिया गए। वह कोरिया की संस्कृति, प्रकृति तथा मनुष्यों से प्रभावित हुए। समय के प्रति सजगता, अनुशासन तथा स्वच्छता ने लेखक को मोह लिया।

काव्य पाठ के लिए मिश्र जी को नेपाल जाने का अवसर मिला। मिश्र जी नेपाल जाने के इच्छुक भी थे। एक अच्छे होटल में उन्हें ठहराया गया। मिश्र जी बिना किसी संकोच के स्वीकार करते हैं कि 'हम ठीक-ठीक होटल संस्कृति से परिचित नहीं हैं।' अतः बहुत-सी चीजों का वह उपयोग ही नहीं करते। काव्य पाठ के लिए ही मिश्र जी लंदन भी गए। यहां भी अनुशासित जीवन पद्धति ने मिश्र जी को मोह लिया। उन्हें लगा कि लोग बुरे नहीं होते, बुराई व्यवस्था में होती है। 'भारत में भ्रष्ट व्यवस्था ने जीवन के हर क्षेत्र में भ्रष्टाचार, अराजकता और अनुशासनहीनता फैला रखी है, उसी का परिणाम है कि वहां के आदमी

आत्मकथा

जीवन-यात्रा के कुछ पड़ाव

फुरसत के दिन : रामदरश मिश्र; इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, कृष्ण नगर, नई दिल्ली-51; मूल्य : 150 रुपये।

फुरसत के दिन रामदरश मिश्र की आत्मकथा का पांचवां खंड है। पहले चार खंडों का समवेत रूप भी समय है सहचर के नाम से प्रकाशित हो चुका है। आलोच्य पुस्तक में सन् 1990 के बाद के दिनों की यात्रा है जब मिश्र जी दिल्ली विश्वविद्यालय की सेवा से मुक्त हो गए थे। मिश्र जी परिवेश से जुड़े हुए लेखक हैं। इस पुस्तक में भी वह परिवेश के साथ चलते हैं और उसके साथ अपने आत्मीय संबंधों का निरूपण करते हैं। उनकी कथा में प्रकृति तथा मनुष्य के साथ उनके अंतरंग संबंध तथा अनुभव उभरते हैं। व्यक्ति के निर्माण में उनकी अहम भूमिका है। मिश्र जी की आत्मकथा में अनेक पात्र हैं, वस्तु स्थितियां हैं जिनसे वे पाठकों का साक्षात्कार कराते

हैं। विभिन्न लेखकों तथा उनका साहित्य को योगदान हमें साहित्य के इतिहास से रू-ब-रू कराता है। इस संबंध में ठाकुर प्रसाद सिंह, शुकदेव, चंद्रकला त्रिपाठी, विवेकीराय, वेद प्रकाश अमिताभ, महावीर चौहान, नंद चतुर्वेदी, बलदेव वंशी, नरेंद्र मोहन, महीप सिंह, गुरचरण सिंह, प्रताप सहगल आदि अनेक साहित्यकारों के नाम उभरते हैं। इन लोगों के साथ मिश्र जी ने अपनी निकटता का वर्णन किया है। मिश्र जी इन लोगों तथा उनसे जुड़े प्रसंगों को कलात्मक अन्विति प्रदान करते हैं। यही आलोच्य कृति की सफलता का रहस्य है।

मिश्र जी को सेवानिवृत्त होने की प्रतीक्षा थी

नियम और कानून को ठेंगा दिखाते दिखाई देते हैं।' मिश्र जी शेक्सपियर का घर देखने गए। उन्हें अच्छा लगा कि लोग साहित्यकारों तथा उनकी कृतियों को सम्मान देते हैं। उनके जीवन से जुड़ी चीजों को सांस्कृतिक-राष्ट्रीय विरासत के रूप में संजोकर रखते हैं। डायना के प्रति कवि ने लोगों का अपार प्रेम देखा। मोम की मूर्तियों के अजायबघर ने मिश्र जी को विशेष रूप से प्रभावित किया।

इसके साथ ही कभी बनारस, कानपुर, अहमदाबाद, राजकोट, मुंबई आदि की यात्राओं का वर्णन मिश्र जी ने किया है। लंबे समय के बाद लोगों से मिलना अकल्पनीय प्रशंसा दे जाता है। भूली-बिसरी अनेक बातें याद हो जाती हैं। ऐसे क्षण अविस्मरणीय होते हैं। लोगों की आत्मीयता, स्नेह पुलकित करता है।

आलोच्य पुस्तक में मिश्र जी विभिन्न साहित्यिक गतिविधियों तथा उनसे जुड़ी स्थितियों की ओर भी इधर-उधर संकेत करते हैं। पत्र-पत्रिकाओं से जुड़ी गुटबाजी, लेखकों की गुटबाजी तथा साहित्यिक उठापटक की वह चर्चा करते हैं। जिन संगोष्ठियों में उनकी भागीदारी रही उनकी तरफ भी पुस्तक में संकेत हैं। गिरिजाकुमार माथुर स्मृतिन्यास से जुड़े सभी कार्यक्रमों का जिक्र पुस्तक में है। इससे न्यास के प्रति मिश्र जी का गहरा जुड़ाव उभरता है। भारतीय लेखक संगठन के त्रिदिवसीय आयोजन को, जो मुंबई में हुआ था, मिश्र जी ने याद किया है। इसमें रमेश कुंतल मेघ, विश्वभरनाथ उपाध्याय, गुरचरण सिंह तथा प्रताप सहगल आमंत्रित थे। विजेंद्र स्नातक की प्रथम पुण्यतिथि का आयोजन प्रभात प्रकाशन ने त्रिवेणी में किया था। मिश्र जी के स्नातक जी के साथ बिताए समय के अनेक प्रेरक प्रसंग यहां उभरते हैं। इसके साथ ही 'रचना पर्व' की ओर से आयोजित कई संगोष्ठियों का जिक्र मिश्र जी ने किया है।

मिश्र जी को दयावती मोदी शेखर सम्मान मुंबई में दिया गया। वहां लोगों से जो आत्मीय स्नेह और प्रेम मिला उससे मिश्र जी का हृदय भीग गया। इस अवसर पर दिल्ली में भी कई सम्मान-समारोहों का आयोजन किया गया। मिश्र जी का मानना है कि इस प्रकार के कार्यक्रम मन में सद्भावना जगाते हैं और लेखन की सार्थकता को रेखांकित करते हैं।

मिश्र जी के अमृतोत्सव पर वाणी प्रकाशन से एक पुस्तक आई थी। *संकेतना* ने मिश्र जी पर विशेष सामग्री प्रकाशित की थी। कई गोष्ठियां इस अवसर

पर आयोजित की गई थीं।

मिश्र जी का मानना है कि दलितेतर लोगों द्वारा लिखा गया साहित्य भी दलित साहित्य के अंतर्गत आना चाहिए। प्रेमचंद, नागार्जुन आदि कई लोगों ने दलितों की पीड़ा को समझा है।

पारिवारिक जीवन के अनेक सुखद-पीड़ादायक प्रसंग पुस्तक में उभरे हैं। ये प्रसंग मिश्र जी को समझने में सहायक हैं। बेटे हेमंत का दुर्घटनाग्रस्त होना और उससे परिवार में उपजा तनाव और चिंता का वर्णन पाठकों को हिला देता है।

आलोच्य पुस्तक मिश्र जी की लगभग दस साल की जीवन यात्रा को प्रस्तुत करती है। जीवन की इस यात्रा के दौरान मिश्र जी को कई व्यक्ति मिले। कुछ इतने आत्मीय लगे कि मिश्र जी के मित्र बन गए तो कुछ के व्यवहार अहं तथा कुंठा ग्रस्त थे। वे मिश्र जी का स्नेह नहीं पा सके। मिश्र जी का

स्वभाव है कि वह धीरे-धीरे खुलते हैं, पर जिसके साथ खुल जाते हैं उसके साथ उनकी खूब निभती है। वह किन लोगों के साथ खुलते हैं इसका ज्ञान इस पुस्तक को पढ़कर ही हो सकता है।

मिश्र जी नए साहित्यकारों को उत्साहित करते हैं। उनमें अहं या बड़े होने का बोध नहीं उभरता। मित्रता और आत्मीयता का जो परिचय वह देते हैं इससे लोग उनके साथ बंध जाते हैं। मिश्र जी को अच्छा लगता है जब कोई उनकी रचना की चर्चा करता है, उन्हें उससे भी अच्छा लगता है जब किसी को कोई अच्छी रचना सामने आती है।

पुस्तक की भाषा सहज है। इसमें एक उपन्यास की रोचकता और पठनीयता है! पुस्तक में जहां-जहां मिश्र जी आते हैं, जिन स्थितियों-घटनाओं को भोगते हैं वहां वह पाठक को भी साथ ले जाते हैं।

—गुरचरण सिंह

सहयोगी रचनाकार

हर्षदेव : 45-डी, एलआईजी फ्लैट, मोतियाखान दिल्ली-110 055

जगदीश चंद्रिकेश : सी-बी-66 डी, जी-8 एरिया, राजौरी गार्डन, नई दिल्ली-110 064

विजय कुमार सिंह : द्वारा रामविलास सिंह, ग्राम-पो. रसौली (पश्चिम टोला) जिला-सारण-841 433 (बिहार)

अनिरुद्ध सिन्हा : गुलजार पोखर, मुंगेर-811 201 (बिहार)

राजेश कुमार व्यास : सूचना एवं जनसंचार अधिकारी, धर्मनगर द्वार के बाहर, ओझा भवन के पीछे, बीकानेर-334 004

बल्लभ डोभाल : डब्ल्यू-46, सेक्टर-12, नोएडा-201 301

सुरेंद्र श्रीवास्तव : असम काटन मिल्स, पोस्ट-चारद्वार-784 103, जिला-शोषितपुर (असम)

कमाल अहमद : 154, ब्रह्मपुत्र छात्रावास, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110 067

संदीप सक्सेना : 72, नारायण नगर, राम सागर मिश्रा नगर, लखनऊ-226 016

अशोक प्रियदर्शी : नीचे करमटोली, रांची-834 008

अस्वर आजाद : मकान नं. 38, रोड नं. 1, आजादनगर, मानगो, जमशेदपुर-832 110

चंद्रकांत बांदिबडेकर : 7-शाकुंतल, साहित्य सहवास, बांद्रा (पूर्व), मुंबई-400 057

रंजन जैदी : एफ ब्लॉक, प्लॉट नं. 17, फ्लैट नं. 12 सी, गली नं. 1, मंगल बाजार, लक्ष्मी नगर, दिल्ली-110 092

आशा प्रभात : कोर्ट बाजार बार्ड नं. 16, सीतामढ़ी-843 302

विज्ञान वत : एन 134, सेक्टर-25, नोएडा-201 301

प्रकाश मनु : 545 सेक्टर-29, फरीदाबाद-121 008 (हरियाणा)

धर्मद गुप्त : 274, राजधानी एक्लेव, पो. शकूरबस्ती, दिल्ली-110 034

गुरचरण सिंह : 6/15, अशोक नगर, नई दिल्ली-110 018

Do you want to know about:



India's Foreign Policy
Information Technology
Disinvestment and Globalisation
Recent Amendments to the Constitution
and such other important topics:

- which directly or indirectly have a bearing on your life;
- which you often encounter at the competitive examinations;
- which you generally face in job interviews.



*Authentic replies to such posers are with us in our
Reference Annual*

भारत 2001 / INDIA 2001

Book your copy with the local agent or contact:

Sales Emporia of Publications Division: Patiala House, Tilak Marg, New Delhi, Ph: 011-3387983; Super Bazar, Connaught Circus, New Delhi, Ph: 011-3313308; Hall No.196, Old Secretariat, Delhi, Ph: 011-3968906; Rajaji Bhavan, Besant Nagar, Chennai, Ph: 044-4917673; 8, Esplanade East, Kolkata, Ph: 033-2488030; Bihar State Cooperative Building, Ashoka Raj Path, Patna, Ph: 0612-653823; Press Road, Thiruvananthapuram, Ph: 0471-330650; 27/6 Rammohan Rai Marg, Lucknow, Ph: 0522-208004; Commerce House, Currimbhoy Road, Ballard Pier, Mumbai, Ph: 022-2610081; State Archaeological Museum Building, Public Gardens, Hyderabad, Ph: 040-236393; 1st Floor, F-Wing, Kendriya Sadan, Koramangala, Bangalore, Ph: 080-5537244; PIB, C.G.O. Bhavan, A-Wing, A.B. Road, Indore; PIB, 80, Malviya Nagar, Bhopal; PIB, B-7/B, Bhawani Singh Road, Jaipur; PIB, Daulat Building, St. Inez, Panaji.



PUBLICATIONS DIVISION
MINISTRY OF INFORMATION & BROADCASTING
GOVERNMENT OF INDIA

डाक तार पंजीयन सं. डी.एल./12035/2001 बिना पूर्व भुगतान के आर.एम.एस दिल्ली में पोस्ट करने के लिए लाईसेंस यू (डी एन)—49/2001 प्राप्त

Postal Regn No DL/12035/2001

Licenced U(DN)-49/2001 to post without pre-payment of RMS Delhi

दिल्ली डाक

Delhi Postal

आर एन 701/57

RN701/57